—पं० विश्वनाथ विद्यामार्तण्ड

जीवन को उन्नत कैसे करें ?

ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति के उपाय

(१) नियमवद्ध जीवन

सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते दक्षिणामन्वावृतम् ।
सा मे द्रविणं यच्छतु सा मे ब्राह्मणवर्चसम् ।।

अथर्व० १०।५।३७।।

(सूर्यस्य) सूर्य की (आवृतम्✡) रीति (अनु) पर (आवर्त्ते) मैं आता हूं, (✡दक्षिणाम्) वृद्धि के (आवृतम्) मार्ग (अनु) पर मैं आता हूं, (सा) वह रीति (मे) मुझे (✡द्रविणम्) वल (✡यच्छतु) देवे (सा) वह (मे) मुझे (✡ब्राह्मण-वर्चसम्) सूर्यसम तेज देवे ।।६।।

भावार्थ—सूर्य की रीति है नियम। नियम से सूर्य उदित और नियम से अस्त होता है और नियम से ही ऋतुओं में परिवर्तन लाता है। नियम को यदि हम अपने जीवन में ले लें, तो हम वृद्धि के मार्ग पर पदार्पण करेंगे। और इससे हमें आत्मिक वल प्राप्त होगा, तथा हम भी सूर्यसम तेजस्वी वनेंगे। आदित्य-ब्रह्मचारी का तेज जो सूर्य-सम होता है उसका कारण उसके जीवन का नियमवद्ध होना ही है। इसीलिये उसे आदित्य-ब्रह्मचारी की संज्ञा मिली है।

✡निघण्टु २।६।। ✡ दाण् को यच्छ आदेश ।। ✡ ब्राह्मण—(१) ब्राह्मण वर्ण, (२) ब्रह्म का सूर्य—सूर्य, (३) ब्रह्मैव ब्राह्मणः—ब्रह्म, वर्चस्—दीप्ति या तेज ।।

✡दक्ष वृद्धौ ।। ✡आवर्त्यते इति—नियमः ।।

(२) ब्रह्मोपासना

ब्रह्माभ्यावर्ते तन्मे द्रविणं यच्छतु तन्मे ब्राह्मणवर्चसम् ।
अथर्व० १०।५।४०।।

(ब्रह्म) ब्रह्म (अभि) की ओर (आवर्ते) मैं आता हूं, (तत्) वह ब्रह्म (मे) मुझे (द्रविणम्) बल (यच्छतु) देवे, (तत्) वह ब्रह्म (मे) मुझे (✡ब्राह्मणवर्चसम्) ब्रह्मतेज देवे ।।१०।।

भावार्थ—मैं, प्रकृति के रास्ते से हट कर अब ब्रह्म की ओर आता हूं। ब्रह्म मुझे आत्मिक-बल और ब्रह्म-तेज देवे। ब्रह्म के संग से ब्रह्म के गुण हम में अवश्य आवेंगे, जैसे प्रकृति के संग से प्रकृति के गुण हम में आ जाते हैं। ब्रह्मतेज का ध्यान, उस पर विचार तथा उस की चित्त में उत्कट भावना से हम में भी वह ब्रह्मतेज आता जायगा। ब्रह्म के तेज और सूर्य के तेज में अन्तर है। ब्रह्म का तेज आत्मिक है और सूर्य का तेज प्राकृतिक। आत्मा में ब्रह्मतेज की स्थापना करना होता है और शरीर में सूर्यतेज की। ब्रह्म की उपासना से ब्रह्मतेज प्राप्त होता है और नियमबद्ध जीवन से सूर्य सम तेज प्राप्त होता है।

(३) सत्संग

ब्राह्मणां अभ्यावर्ते। ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम्।। अथर्व० १०।५।४१।।

(ब्राह्मणान्) ब्राह्मणों की (अभि) ओर (आवर्ते) मैं आता हूं। (ते) वे (मे) मुझे (द्रविणम्) बल (यच्छन्तु) देवें, (ते) वे (मे) मुझे (ब्राह्मणवर्चसम्) ब्रह्मतेज या अपना तेज देवें ।।११।।

भावार्थ—"ब्राह्मणे ब्राह्मणम्" यजु० ३०, ५ में ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये ब्राह्मण को प्राप्त करने की आज्ञा दी है। ब्रह्म कहते हैं—वेद और परमात्मा को। अतः ब्राह्मण वे हैं जो वेदों को जानते हैं, वेद पढ़ा सकते हैं, वेदानुकूल आचरण रखते हैं, तथा ब्रह्मवेत्ता हैं। ऐसे ब्राह्मणों का सत्संग करना चाहिये। ऐसे ब्राह्मणों के सत्संग से हम में भी (१) वैदिक-तेज, (२) परमात्म-तेज और (३) ब्राह्मण वर्ण का तेज आ जायगा।

सूर्य-सम तेजस्वी बनने की इच्छा

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि। स यथा त्वं भ्राजता भ्राजोऽस्येवाहं भ्राजता भ्राज्यासम्।। अथर्व० १७।१।२०।।

✡ ब्रह्मात् ब्राह्मणः, अर्थात् ब्रह्म को भी ब्राह्मण शब्द से कहते हैं।

हे सूर्य ! (शुक्रः) तू प्रकाशमान् (असि) है, (भ्राजः) तेजःस्वरूप (असि) है। (यथा) जिस प्रकार (त्वम्) तू (सः) प्रत्यक्ष (भ्राजता) तेज के कारण (भ्राजः) तेजस्वी (असि) है (एवा) इसी प्रकार (अहं) मैं (भ्राजता) तेज के कारण (भ्राज्यासम्) तेजस्वी बनूं ॥१२॥

भावार्थ—सूर्य प्रकाशमान् है, तेजस्वी है। सूर्य का दर्शन कर और सूर्य को आदर्श मान कर अपने आप को भी वैसा ही प्रकाशमान् और तेजस्वी बनाने की दृढ़ इच्छा तथा कोशिश करनी चाहिए। सूर्य का नाम आदित्य भी है। तीसरी कोटि के ब्रह्मचारी का तेज सूर्यसम हो जाता है। इसीलिये उसे आदित्य-ब्रह्मचारी कहते हैं। आदित्य ब्रह्मचर्य ४८ वर्षों का होता है। अतः सूर्यसम प्रकाशमान् तथा तेजस्वी बनने की इच्छा के साथ-साथ उस का उपाय जो ४८ वर्षों का ब्रह्मचर्य है उसे भी आचरणों में लाना चाहिये।

उच्च कोटि के यशस्वी बनो

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमास्मि यशस्तमः ॥ अथर्व० ६।३९।३॥

(इन्द्रः) सूर्य (यशाः) यशस्वी, (अग्निः) आग (यशाः) यशस्वी और (सोमः) चन्द्रमा (यशाः) यशस्वी (अजायत) हुआ है। (अहम्) मैं (यशाः) यशस्वी (अस्मि) हूं (विश्वस्य) सब (भूतस्य) संसार के बीच (यशस्तमः) अत्यन्त यशस्वी हूं ॥१३॥

भावार्थ—यशस्वी का अर्थ है यश वाला। यश कोई बुरी वस्तु नहीं। अपयश अवश्य बुरा है। प्रत्येक मनुष्य को यश प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए। परमात्मा के लिये वेद में कहा है "यस्य नाम महद्यशः" यजु० ३२, ३। अर्थात् परमात्मा का बड़ा यश है परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि यश "धर्म और सत्कर्मों" का फल है। अधर्म और असत्कर्मों का फल अपयश है, निन्दा है। यशस्वी होने के लिये असत्कार्यों का अवलम्बन नहीं करना चाहिये।

मन्त्र में यश की प्राप्ति में सूर्य, आग और चन्द्रमा का दृष्टान्त दिया है। इन के साथ "अजायत" अर्थात् जन धातु का प्रयोग किया है। जिसका अभिप्राय है कि सूर्य, आग और चन्द्र जन्म से ही यशस्वी हैं। यह क्यों ? कारण यह कि (क) ये तीनों प्रकाशस्वरूप हैं (ख) तथा इन का प्रकाश स्वार्थ के लिये नहीं अपितु परार्थ के लिये है। सूर्य इसलिये प्रकाशित नहीं कि सूर्य को अपने लिये प्रकाश चाहिये अपितु इसलिये कि इस का प्रकाश औरों को चाहिये। इस प्रकार सूर्य ने जन्म-काल

से ही स्वोपार्जित वस्तु को दूसरों के उपकार के लिये रख छोड़ा है न कि स्वार्थसिद्धि के लिये। इसी प्रकार आग और चन्द्रमा के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये।

संसार में भी उसी व्यक्ति का यश होता है जो (क) प्रकाश मार्ग का अवलम्बन ले, (ख) तथा प्रकाश मार्ग पर चलते हुए उस ने जो भी प्रकाश प्राप्त किया है उस का परोपकार के अर्थ दान करे। दम्भ, द्वेष, कपट, ईर्ष्या, देशद्रोह, मित्रद्रोह, असत्य, नास्तिक्यादि दुर्गुण अन्धकारमार्ग के हैं। प्रेम, परोपकार, विद्या, ज्ञान, सदाचार, ब्रह्मचर्य, सत्य आदि सद्गुण प्रकाश मार्ग के हैं।

प्रथम तो मनुष्य स्वयं इस प्रकाश-मार्ग का अवलम्बन करे और प्रकाश प्राप्त होने पर उसे फिर औरों को दे। सूर्य आदि स्वयं ही यदि प्रकाशित न हों तो वे अन्यों को प्रकाश कैसे देंगे ? इसी प्रकार मनुष्य यदि स्वयं ही अन्धकार में ठोकरें खा रहा है तो वह औरों को इन ठोकरों से कैसे बचा सकता है ! अतः वेद आज्ञा देता है कि पहिले तुम (क) स्वयं प्रकाश प्राप्त करो (ख) और पुनः प्राप्त हुआ प्रकाश दूसरों को दो। इस प्रकार यशस्वी बनो।

यशस्वीपन की हद्द क्या है ? इस के लिये वेद में कहा है कि "विश्वस्य भूतस्य यशस्तमः" अर्थात् मनुष्य को सारे संसार में सब से अधिक यशस्वी बनना चाहिए। संसार में कोई भी पदार्थ मनुष्य की अपेक्षा अधिक यशस्वी न होसके। यदि मनुष्य का यश किसी की अपेक्षा कम हो तो वह केवल एक प्रभु की अपेक्षा से। अन्य सब की अपेक्षा तो मनुष्य को ही अधिक यशस्वी होना चाहिये।

प्रत्येक सद्गुण में अत्यन्त यशस्वी बनो

यथेन्द्रो द्यावापृथिव्योर्यशस्वान्। यथाप ओषधीषु यशस्वतीः।
एवा विश्वेषु देवेषु वयं सर्वेषु यशसः स्याम्॥ अथर्व० ६।५८।२॥

(यथा) जैसे (इन्द्रः) सूर्य (द्यावापृथिव्योः) द्युलोक और पृथिवी लोक में (यशस्वान्) यश वाला है, (यथा) जैसे (आपः) जल (ओषधीषु) औषधियों में (यशस्वतीः) यश वाले हैं। (एवा) इसी प्रकार (विश्वेषु) सब (देवेषु) देवों में और (सर्वेषु) हरेक गुण में (वयम्) हम सब (यशसः) यश वाले (स्याम) हों॥१४॥

भावार्थ—१—इन्द्र—सूर्य द्युलोक और पृथिवीलोक में अपने प्रकाश और तेज के कारण यशस्वी है।

२—आपः-औषधियों में जल यशस्वी है। कारण यह कि ओषधियों में जल-रूप-औषध अधिक गुणकारी है। अतः औषधियों में जल यशस्वी है। जल-रूप-

औषध का प्रयोग जल-चिकित्सा में होता है। तथा विना जल के अन्न ओषधियों की उत्पत्ति भी सम्भव नहीं। इसलिये भी जल का यश औषधि-जगत् में है।

३ – सूर्य और जल दोनों ही अपने-अपने दिव्यगुणों के कारण यश वाले बने हैं। हमें चाहिये कि इन देवों अर्थात् दिव्यगुणों वाले पदार्थों तथा विद्वज्जनों में, हम भी अपने दिव्य गुणों के कारण यश के भागी बनें। दिव्य गुणों वाले पदार्थों में यशस्वी होने का अभिप्राय यह है कि लोक में तेज के दृष्टान्त में सूर्य का, सौम्यगुण के दृष्टान्त में चन्द्र का तथा शान्ति के दृष्टान्त में जल का नाम लिया जाता है। मनुष्य तेज में सौम्यगुण में तथा शान्ति में इतना प्रसिद्ध हो जाये कि उसी को लोग उस-उस गुण के उत्कर्ष में दृष्टान्त रूप से पेश किया करें। तब हम कह सकते हैं कि अमुक मनुष्य दिव्यगुणों वाले पदार्थों में यशस्वी है। विद्वज्जनों में यशस्वी होने का अभिप्राय स्पष्ट ही है।

४—हम यह भी कोशिश करें कि प्रत्येक दिव्यगुण में हमारा नाम यशस्वी हो अर्थात् हम प्रत्येक दिव्यगुण के उत्कर्ष को प्राप्त करें।

संकल्प शक्ति के गुण

आकूतिं देवीं सुभगां पुरो दधे चित्तस्य माता सुहावा नो अस्तु।
यामाशामेमि केवली सा मे अस्तु विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम्॥

अथर्व० ६।४।२॥

(देवीं) दिव्यगुणों वाली (सुभगाँ) तथा उत्तम भग को पैदा करने वाली (आकूतिम्) संकल्प-शक्ति को (पुरः) आगे (दधे) मैं धरता हूं, चित्तस्य चित्त की (माता) माता रूप वह संकल्प-शक्ति (नः) हमारे लिये (सुहवा) सहज में बुलाने योग्य (अस्तु) होवे। (याम्) जिस (अशम् कामना को (एमि) मैं प्राप्त होऊं (सा) वह (मे) मेरी कामना (केवली) केवल अर्थात् अकेली हो, संकीर्ण न हों, (मनसि प्रविष्टाम्) मन में प्रविष्ट हुई (एनाम्) इस संकल्पशक्ति को (विदेयम्) मैं पाऊं ॥१५॥

भावार्थ –ऊपर के मन्त्र में संकल्पशक्ति के विषय में निम्नलिखित बातें कहीं हैं—

(१) मनसि प्रविष्टाम्—संकल्प-शक्ति मन में प्रविष्ट है अर्थात् मन में रहती। संकल्प-शक्ति मन का धर्म है। अतः मन के संयम से हम संकल्प-शक्ति को अपने वश में कर सकते हैं।

(२) विदेयम्—प्रत्येक मनुष्य को संकल्प शक्ति की प्राप्ति के लिये यत्न करना चाहिये।

(३) सुहवा:—संकल्प-शक्ति को सुहव बनाना चाहिये। अर्थात् जिस समय चाहें उस संकल्प-शक्ति को हम बुला सकें, इसे चित्त में उपस्थित कर सकें, संकल्प-शक्ति भृत्यवत् हमारे वश में होकर रहे। कई मनुष्य ऐसे होते हैं कि उन में संकल्प-शक्ति का लगभग अभाव ही होता है। तथा कई ऐसे भी होते हैं जिनमें थोड़ी वहुत संकल्पशक्ति ही होती है परन्तु यथासमय वे अपने मन में संकल्पशक्ति को पैदा नहीं कर सकते। दोनों प्रकार के ये मनुष्य सदाचार तथा कर्त्तव्य में कमजोर होते हैं।

(४) केवली:—मन्त्र में यह भी कहा है कि एक समय में एक ही कामना करो। उस कामना की पूर्ति के लिये अपनी संकलपशक्ति लगाओ तो कामनासिद्धि अवश्य और शीघ्र होगी। यदि एक ही समय में कई कामनाएं की जाएंगी तो सकल्प-शक्ति बंट जायगी और कार्यसिद्धि में उचित सहायता न दे सकेगी। अत: संकल्पशक्ति के अभ्यास करने वाले को चाहिये कि वह अपनी इच्छाओं का विश्लेषण (Analysis) करे और उन विशिष्ट कामनाओं में से प्रथम एक कामना को ले और मन में धारणा करे कि मैंने अमुक कार्य करना है। इस प्रकार अपना एक लक्ष्य निश्चित करके उस के लिये संकल्प-शक्ति को लगावे तो वह अवश्य सफल हा जायगा। अभ्यासी के चित्त में यदि बहुत कामनाएं एक दम उठ पड़ेंगी और वह अभ्यासी यदि किसी एक कामना को अपना लक्ष्य न बना सकेगा तो उसकी संकल्प-शक्ति उसकी मदद न कर सकेगी। अतः संकल्प-शक्ति के अभ्यासी को यह अभ्यास अवश्य प्राप्त करना चाहिये कि वह अपनी इच्छाओं, कामनाओं या आशाओं को केवल अर्थात् व्यक्ति के रूप में पृथक्-पृथक् कर सके। अर्थात् अनेक इच्छाओं की युगपत् उपस्थिति में भी वह उन संकीर्ण इच्छाओं को अकेला-अकेला कर सके और तत्पश्चात् इस अकेली-अकेली इच्छा को अपना लक्ष्य बनावे। इसी सिद्धान्त के दर्शाने के लिये मन्त्र में केवली पद का प्रयोग है।

(५) चित्तस्य माता—संकलपशक्ति चित्त की माता है। माता के बिना सन्तति नहीं होती। चित्त को अस्तित्व देने वाली संकल्प-शक्ति ही है। संकल्प-शक्ति के बिना चित्त का स्वरूप ही सम्भव नहीं। क्योंकि चित्त के जितने भी गुण धर्म हैं, उन की कार्यक्षमता संकल्प-शक्ति पर ही निर्भर है। उदाहरण के लिए चित्त के एक धर्म अर्थात् ज्ञान को हम लेते हैं। ज्ञान की प्राप्ति भी दृढ़ संकल्प पर अवलम्बित है। ज्ञान की प्राप्ति के लिये कई कष्ट सहने पड़ते हैं। उन कष्टों पर विजय पाना दृढ़ संकल्प-शक्ति वालों का ही काम है। इसी प्रकार चित्त के अन्य गुणधर्मों को भी हम दृष्टांत रूप से पेश कर सकते हैं और सिद्ध कर सकते हैं कि उन गुणधर्मों की स्थिति संकल्प-शक्ति के बिना असम्भव है। इन गुणधर्मों को चित्त

से पृथक् कर के यदि सोचा जाय तो चित्त की स्थिति की कोई भी कल्पना मन में उपस्थित नहीं होती। अतः चित्त की स्थिति, चित्त के गुणधर्मों से पृथक् होकर, न के बराबर है। संकल्प-शक्ति चूंकि चित्त के गुणधर्मों की माता है, अतः वह चित्त की भी माता कहीं जाती है।

(६) देवीः—संकल्प-शक्ति देवी है। देवी का अर्थ है दिव्य गुणों वाली। वास्तव में संकल्प-शक्ति के बड़े-बड़े दिव्य गुण हैं। संकल्प-शक्ति के द्वारा हम आश्चर्यजनक कामों को कर सकते हैं। संकल्प-शक्ति के प्रभाव को देखने के लिए योगदर्शन के सिद्धिपाद का अवश्य स्वाध्याय करना चाहिए।

(७) सुभगाः—संकल्प-शक्ति सुभगा है। यह भग को पैदा करती है। भग के ६ अर्थ हैं—ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य। इन में से किसी की भी प्राप्ति संकल्प-शक्ति के बिना नहीं हो सकती। इसीलिये संकल्प-शक्ति को सुभगा कहा है।

(८) मन्त्र के "पुरोदधे" पदों पर भी ध्यान देना चाहिये। "विदेयम्" और "पुरोदधे" का अभिप्राय एक सा ही है। तो भी कुछ फर्क है। "विदेयम्" पद द्वारा संकल्प-शक्ति की प्राप्ति के लिये केवल इच्छा ही प्रकट की गई है और "पुरोदधे' पद द्वारा उस संकल्प-शक्ति को आगे रखने का प्रण किया गया है। आगे रखने का अभिप्राय यह है कि प्रथम कार्य करने के पूर्व दृढ़-संकल्प-शक्ति का प्रयोग किया जाय। यथा 'मैं इस कार्य को अवश्य करूंगा' 'इस कार्य को पूरा करने के लिये मुझ में शक्ति अवश्य है' 'मैं इस कार्य में उपस्थित होने वाली सब बाधाओं को हटा सकता हूं' इत्यादि प्रकार से संकल्पशक्ति को, प्रत्येक कार्य के करने के पूर्व, हम अपने चित्त में रक्खें। अथवा 'पुरोदधे' का यह भी अभिप्राय हो सकता है कि मैं संकल्प-शक्ति को सर्वदा अपने सामने रखता हूं। कभी उसे भुलाता नहीं।

(९) संकल्प-शक्ति का थोड़ा-सा और भी वर्णन हम पाठकों के विचारार्थ रखना चाहते हैं, ताकि पाठकों के चित्त में इस शक्ति का यथार्थ गौरव बैठ सके।

क—संकल्प पद "सम्+क्लृप्" से बनता है। सम् का अर्थ है—अच्छे प्रकार और क्लृप् का अर्थ है—सामर्थ्य। संकल्प से मन में अच्छा सामर्थ्य पैदा हो जाता है, यह भाव संकल्प पद की रचना से ही सूचित हो रहा है।

ख—शब्दस्तोममहानिधि में संकल्प का लक्षण निम्नलिखित शब्दों में किया है 'अभीष्टसिद्धये इदमित्यमेव कार्यमित्येव रूपे मनसो व्यापारभेद' जिसका अर्थ यह है कि "इष्टवस्तु की सिद्धि के लिये यह इस प्रकार ही करना चाहिये, इस प्रकार मन का जो

एक व्यापार विशेष है, उसे संकल्प कहते हैं।" आगे चलकर वही कोष फिर लिखता है "कर्मसाधनाय।मितापवाक्ये"। अर्थात् कर्म की सिद्धि के लिये दृढ़ निश्चय का द्योतक जो एक प्रकार का मानस-कथन है उसे संकल्प कहते हैं।" इसीलिये वेद में इस संकल्प-शक्ति का नाम आकूति दिया है। आकूति पद में जो "कु" धातु है उस का अर्थ है—शब्द करना। मन में जो दृढ़तासूचक वाक्य बोले जाते हैं यथा—"मैं ऐसा करूंगा" "यह अवश्य किया जा सकता है" इन्हीं का नाम आकूति या संकल्प है।

शब्दस्तोम में और भी लिखा है कि "मानससंकल्पो द्विविधः, भावाभावविषयभेदात्। तत्राद्यः मयैतत्कर्तव्यमित्येवंरूपः, द्वितीयः मयैतन्न कर्तव्यमित्येवंरूपः"। इस का अभिप्राय यह है कि 'मानसिक संकल्प के दो भेद हैं। एक प्रकार के मानसिक संकल्प का विषय भाव रूप है और दूसरे प्रकार के मानसिक संकल्प का विषय है अभाव रूप। यथा मुझे अमुक कार्य अवश्य करना चाहिए यह तो भावरूप संकल्प है और मुझे अमुक कार्य न करना चाहिये यह संकल्प अभाव रूप है। इसीलिये धर्म के भी दो भेद हैं विधिरूप और निषेधरूप। यथा—संध्या करना विधिरूप धर्म है और चोरी न करना निषेधरूप धर्म है।

ग—पद्मपुराण में भी लिखा है कि **"संकल्पेन बिना राजन्! यत्किंचित्कुरुते नरः। फलस्याल्पाल्पकं तस्य धर्मस्यार्धक्षयो भवेत्॥**

अर्थ—हे राजन्! संकल्प के बिना मनुष्य जो कुछ भी करता है उस का धर्म आधा रह जाता है, और उस के कार्य का फल भी अल्पाल्प होता जाता है।

कारण क्या? कारण यही है कि धर्म दो प्रेरक भावों द्वारा किया जा सकता है। या तो धर्म का गौरव जान कर स्वयं अपनी इच्छा द्वारा और या लोक-लज्जा अथवा लोकैषणा के द्वारा। जब अपनी इच्छा द्वारा धर्म किया जाता है तब तो उस के साथ संकल्प-शक्ति रहती ही है, और इस प्रकार उस धर्मकृत्य का भी उत्तम फल होता है। परन्तु जब यही धर्मकृत्य लोकलज्जा अथवा लोकैषणा से प्रेरित होकर किया जाता है, तब इस धर्मकृत्य के साथ कर्त्ता की वास्तविक इच्छा या संकल्प-शक्ति नहीं होती। धर्मकृत्य का करना केवल इस समय ढोंग मात्र होता है। अतः इस का फल भी उत्तम नहीं हो सकता। यही पद्मपुराण का यहां अभिप्राय है।

घ—लिंगार्चनतन्त्र के पांचवें पटल में लिखा है कि—

संकल्पं मानसं देवि! चतुर्वर्गप्रदायकम्।

अर्थः—हे देवि! मन का संकल्प चतुर्वर्ग का साधक है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, यह चतुर्वर्ग है। सुभगा पद की व्याख्या का इसके साथ मुकाबिला करो।

ङ—मनुमहाराज ने भी संकल्प की महिमा दर्शाई है। यथा:—

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः।
व्रतानि यमनियमाश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः।।

अर्थः—संकल्प, इच्छा-सिद्धि का मूल है, संकल्प से यज्ञ होते हैं। व्रत, यम और नियम भी संकल्पजन्य हैं।

च—इसी प्रकार यजुर्वेद अध्याय ३४ मन्त्र १ से ६ में भी "तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु" द्वारा मानसिक शिवसंकल्पों की प्राप्ति के लिये कहा है। 'मैंने संसार भर का दुःख हटाना है" "मैंने पाप कभी नहीं करना" ये तो शिवसंकल्प है; इससे विपरीत 'मैंने इसका बदला अवश्य लेना है" "मैं उसको अवश्य सताऊंगा" ये अशिवसंकल्प हैं।

(१०) आकूति=आ×कूज् (शब्दे)×क्तिन्। अर्थात् अपने चित्त में शब्द उठाये कि "मैं कार्य कर सकता हूं" "यह कार्य उत्तम है" "इसे करना चाहिये" 'मेरी शक्ति प्रतिबन्धों पर अवश्य विजय पा लेगी' ये शब्द संकल्प शक्ति या आकूति के उदाहरण हैं।

(११) आशा=आङ्+शासु इच्छायाम्। अतः आशा का अर्थ है—इच्छा, कामना।

आशामय जीवन

पश्येम शरदः शतम्।१। जीवेम शरदः शतम्।२।
बुध्येम शरदः शतम्।३। रोहेम शरदः शतम्।४।
पूषेम शरदः शतम्।५। भवेम शरदः शतम्।६।
भूषेम शरदः शतम्।७। भूयसीः शरदः शतात्।८।
अथर्व १९।६७।१-८।।

(शतम्) सौ (शरदः) वर्ष (पश्येम) हम देखते रहें।१।
(शतम्) सौ (शरदः) वर्ष (जीवेम) हम जीते रहें।२।
(शतम्) सौ (शरदः) वर्ष (बुध्येम) हम बोध प्राप्त करते रहें।३।
(शतम्) सौ (शरदः) वर्ष (रोहेम) हम बढ़ते रहें।४।
(शतम्) सौ (शरदः) वर्ष (पूषेम) हम पुष्ट होते रहें।५।
(शतम्) सौ (शरदः) वर्ष (भवेम) हम बने रहें।६।
(शतम्) सौ (शरदः) वर्ष (भूषेम) हम देह-भूषा करते रहें।७।

(शतात्) सौ से भी (भूयसीः) अधिक (शरदः) वर्षों तक हम उपरोक्त कार्य करते रहें। १६।

भावार्थ:—(१) आज कल छोटी आयु में ही इन्द्रियां काम देना बन्द कर देती हैं। वेद में लिखा है कि हमारी आंख की शक्ति १०० वर्षों तक बनी रहे।

(२) वेद का जीवन इतना आशामय है कि वेदों का भक्त १०० वर्षों तक लगातार ज्ञान प्राप्त करते रहने का अभिलाषी है।

(३) हमारे बढ़ने की शक्ति आजकल लगभग २५ सालों की उम्र तक सीमित है। परन्तु मन्त्र में सौ वर्षों तक निरन्तर बढ़ते जाने का कथन है।

(४) तथा साथ ही सौ वर्षों तक निरन्तर पुष्टि प्राप्त करते जाने का भी कथन है।

(५) वेद मनुष्यों के जीवन में से आनन्द और मोद-प्रमोद का रस निकाल कर उन्हें सूखी लक्कड़ नहीं बनाना चाहता। इसीलिए ७वें टुकड़े या मन्त्र में यह इच्छा प्रकट की गई है कि हम सौ वर्ष तक अपना भूषण तथा शोभा-सौन्दर्य स्थिर रखें। बल्कि —

(६) भूयसीः अर्थात् सौ वर्षों से अधिक भी उपरोक्त कार्यों को करें। वैदिक धर्म के आशामय जीवन का थोड़ा सा नमूना ऊपर के मन्त्रों में दिया है। उनके पढ़ने से पाठकों के चित्तों में उस आशामय जीवन का चित्र अवश्य अंकित हो गया होगा।

जीवन की पवित्रता

पुनन्तु देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया। पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा॥ अथर्व० ६। १९।१॥

(देवजनाः) दिव्यगुणों वाले जन (मा) मुझे (पुनन्तु) पवित्र करें, (मनवः) मननशील मनुष्य मुझे (धिया) बुद्धि और कर्म द्वारा (पुनन्तु) पवित्र करें। (विश्वा) सब (भूतानि) भूत (पुनन्तु) मुझे पवित्र करें (पवमानः) पवित्र परमात्मा (मा) मुझे (पुनातु) पवित्र करे॥१७॥

भावार्थ:—(१) देवजनाः—वे जन जो दिव्यगुणों वाले हैं, दिव्यगुणों को देकर मुझे पवित्र करें। सत्यभाषण, परोपकार, दया आदि दिव्यगुण हैं। इन गुणों के धारण करने से मनुष्य पवित्र हो जाता है। जिन जनों में ये दिव्यगुण रहते हैं उन्हें देवजन कहते हैं।

(२) मनवः-- मननशील मनुष्य मेरी बुद्धि को पवित्र कर मुझे पवित्र करें। पवित्र और अपवित्र कर्मों का मूल बुद्धि है। इसीलिए श्रेष्ठ गायत्री मन्त्र में भी बुद्धि के लिए प्रार्थना है। बुद्धि के प्रवित्र हो जाने पर कर्म स्वयं पवित्र हो जाते हैं। मन्त्र में बुद्धि और उसके द्वारा जीवन को पवित्र करने का सामर्थ्य 'मानव' को दिया है। मनवः का अर्थ है—मननशील मनुष्य। अतः इस वर्णन से स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि बुद्धि को पवित्र करने का मुख्य साधन मनन है। जैसे-जैसे हम सत्कर्मों और सद्-विचारों का मनन करेंगे, वैंसे-वैंसे हम में मानसिक स्थिरता के साथ-साथ, उन सत्कर्मों तथा सद्विचारों में अनुराग बढ़ता जायगा जिसका कर्मों पर भी अवश्य असर होगा।

(३) विश्वाभूतानिः— विश्वभूत मुझे पवित्र करें, यह तीसरा प्रक्रम है। जब हमारे जीवनों में विश्व-भूत-हित का भाव जागृत होता है तो यह भाव हमें पवित्र बना देता है। जैसे-जैसे स्वार्थ के भावों के स्थान में परार्थ के भाव आतेजाते हैं जीवन भी वैसे ही शनैः शनैः पवित्र होता जाता है।

(४) पवमानः—चौथा प्रक्रम है, परमात्मा से पवित्रता का मांगना। परमात्मा पवित्र से भी पवित्र है, इससे बढ़कर कोई पवित्र नहीं। अतः परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना और उपासना द्वारा अपने जीवन को पवित्र बनाना, यह अन्तिम साधन है। इस प्रकार इस मन्त्र में पवित्रता के चार साधन माने हैं १—देवजनों की सत्संगति द्वारा दिव्यगुणों का लाभ, २—मननशीलों की सत्संगति द्वारा मनन का लाभ, ३—विश्वभूतहित, ४—परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना और उपासना। इन चारों साधनों से हमारा जीवन पवित्र हो सकता है।

पवित्रता के बिना उत्तम बुद्धि, उत्तम कर्म, उन्नत जीवन तथा अहिंसा असम्भव है

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे। अथो अरिष्टतातये।
अथर्व० ६।१६।२॥

(पवमानः) पवित्र परमेश्वर (मा) मुझे (पुनातु) पवित्र करे, (क्रत्वे) बुद्धि और कर्म के लिये, (दक्षाय) वृद्धि तथा बल के लिये, (जीवसे) जीवन के लिये, (अथो) और उसके बाद (अरिष्टतातये) अहिंसा के विस्तार के लिये ॥१८॥

भावार्थः—मन्त्र में पवित्र परमात्मा से पवित्रता मांगी है। बिना पवित्रता के बुद्धि-शक्ति तथा कर्मयोग, चहुंमुख वृद्धि तथा शारीरिक मानसिक, और आत्मिक

बल तथा उत्तम जीवन नहीं हो सकते। और इनकी प्राप्ति के बिना अहिंसाभाव का विस्तार हम नहीं कर सकते। पवित्रता साधन है ऋतु, दक्ष और पवित्र जीवन में। ऋतु दक्ष तथा उत्तम जीवन साधन हैं अरिष्टताति अर्थात् अहिंसाभाव के विस्तार में। अतः प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह पवित्रता को प्राप्त कर ऋतु, दक्ष तथा उत्तम जीवन को प्राप्त करे और इनको प्राप्त कर संसार में अहिंसा का प्रचार करे। अहिंसा वृत्ति के मूल में पवित्रता का निवास है। जीवन में पवित्रता के बिना अहिंसा का भाव जागृत नहीं हो सकता। एक बात और स्मरण रखनी चाहिये। हिंसकों के प्रति हिंसा का व्यवहार न करने में ये दो भाव हैं —(क) कायरता, (ख) अहिंसा वृत्ति। यदि मनुष्य कायर है तब तो वह हिंसकों के प्रति हिंसा का व्यवहार कर ही नहीं सकता। यदि वह प्रत्युपकार के लिये बल रखता हुआ भी हिंसा नहीं करता तो वह इसलिये नहीं कि वह कायर है, अपितु इसलिये कि वह इस मार्ग का अवलम्बन करना ही नहीं चाहता। यही वृत्ति अहिंसा भाव की है। बल न होने पर क्षमा कर देना क्षमा नहीं, अपितु कायरता है। और बल के रहते हुए क्षमा कर देना वास्तव में क्षमा है। यही अहिंसा है। इसीलिये मन्त्र में दक्ष अर्थात् बल की प्राप्ति के बाद अरिष्टताति अर्थात् अहिंसा का वर्णन है। अतः बिना पवित्रता के ऋतु, दक्ष और जीवन का पूर्ण विकास नहीं हो सकता और बिना इनके पूर्ण विकास के अहिंसा धर्म का विस्तार नहीं हो सकता।

पाप निराकरण के उपाय

(१) पापों से अलग होने की दृढ़ इच्छा

वि देवा जरसावृतन् वि त्वमग्ने अरात्या। व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा। अथर्व० ३।३१।१।

(देवाः) देव लोग (जरसा) बुढ़ापे से (वि) अलग (अवृतन्) रहे हैं, (अग्ने) हे आग हैं (त्वम्) तू (अरात्या) अदान से (वि) अलग रही है। (अहम्)मैं (सर्वेण) सब (पाप्मना) पाप से (वि) अलग रहूं, (आयुषा) उत्तम तथा पूर्ण आयु से (सम्) संयुक्त रहूं।१६।

भावार्थः —(१) इस मंत्र में व्यक्ति, पापों और रोगों से अलग रहने की इच्छा प्रकट करता है। इस इच्छा की पूर्ति के लिये वह संसार के दो प्रसिद्ध दृष्टान्तों को अपने सन्मुख रखता है। पहिला दृष्टान्त देवों का और दूसरा अग्नि का है। देव बुढ़ापे से और आग अदान से जैसे सदैव अलग रहते हैं, कभी इनसे संबद्ध नहीं होते, इसी प्रकार मैं भी पापों और रोगों से अलग हो जाऊं, यही दृढ़ेच्छा इस मन्त्र द्वारा की गई है।

(२) मन्त्र में कहा है कि देवों को बुढ़ापा नहीं आता। वे सदैव बुढ़ापे से उन्मुक्त रहते हैं। यूं तो बुढ़ापा सभी को आता है, भेद इतना ही है कि देवों को केवल शरीर का बुढ़ापा आता है और वह भी देर में, परन्तु हम लोगों को शरीर और मन दानों का बुढ़ापा आता है और वह भी शीघ्र। यदि मन में बुढ़ापा नहीं तो शरीर का बुढ़ापा कोई बुढ़ापा नहीं। देव कहते हैं "दिव्य गुण वालों को"। सदाचारी, परोपकारी, निर्भय, उदार, शूर तथा विद्वान् देव हैं। इन को मानसिक बुढ़ापा कभी भी नहीं आता। जैसे ये बुढ़ापे से छूटे हुए हैं इसी प्रकार पापों और रोगों के सम्बन्ध से मैं भी सदा छूटा रहूं।

(३) दूसरा दृष्टान्त है अग्नि का। अग्नि अदान से सदोन्मुक्त है। अग्नि ताप और प्रकाश के साथ ही पैदा होता है। पाप और प्रकाश से शून्य अग्नि की सत्ता ही नहीं हो सकती। अग्नि पैदा होते ही ताप और प्रकाश का दान भी करने लगता है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि अग्नि पैदा हो, उसके पास ताप और प्रकाश हों और वह उस ताप और प्रकाश का दान न करे। दीपक जलते ही वह ताप और प्रकाश का दान करने लगता है। अतः अग्नि अदान से सर्वथा और सर्वदा अलग है। इसी प्रकार इस अग्नि में जो वस्तु लायी जावे उसे यह अपने लिये नहीं रखता अपितु उसे पूर्णरूप में वायु, जल तथा ओषधि आदि को दान कर देता है। जैसे अग्नि अदान से अलग है इसी तरह मैं भी पापों और रोगों से अलग हो जाऊं, इस प्रकार की इच्छा पाठक किया करें, यह मन्त्र में सूचित किया है।

(४) मन्त्र में दूसरी यह इच्छा की गई है कि मैं उत्तम तथा पूर्ण आयु वाला होऊं। इस प्रसंग में मन्त्र के पिछले आधे हिस्से पर पुनर्विचार की अत्यन्त आवश्यकता है। मन्त्र के इस हिस्से में तीन इच्छाओं का वर्णन है। (क) मैं सभी पापों से पृथक् हो जाऊं। पाप तीन तरह के होते हैं – मानसिक, वाचिक और कायिक। किसी का बुरा चाहना, कुविचार करना आदि मानसिक पाप हैं। कठोर बोलना, निन्दा करना, असत्य बोलना आदि वाचिनक पाप हैं। व्यभिचार, हिंसा, कुचेष्टा आदि कायिक पाप हैं। (ख) दूसरी इच्छा यह है कि मैं रोगों से मुक्त हो जाऊं (ग) तीसरी इच्छा यह है कि मैं उत्तम और पूर्ण आयु के साथ संयुक्त हो जाऊं। इन तीनों इच्छाओं में कार्यकारणभाव है। तभी इन का इस क्रम से वर्णन मन्त्र में किया है। पापों से हटने पर रोगों से मुक्ति हो सकती है और रोगों से मुक्ति मिलने पर आयु की उत्तमता और पूर्णता हो सकती है। पापी मनुष्य कभी रोगों से मुक्त नहीं हो सकता और रोगी कभी भी उत्तम तथा पूर्ण आयु को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः प्रथम पापों से हटना चाहिये, पुनः हम रोगों से मुक्ति पा सकेंगे और तत्पश्चात् हम उत्तम तथा पूर्ण आयु प्राप्त कर सकेंगे।

(५) परन्तु प्रश्न पैदा हो सकता है कि इस मन्त्र में पापों से अलग होने का कोई तरीका या साधन तो बतलाया नहीं, फिर पापों से छुटकारे का वर्णन कैसा ? इसका उत्तर यह है कि "मैं पापकर्मों से अलग रहूं" यह दृढ़ेच्छा ही मनुष्य को पाप-कर्मों से बचाती है। यह सदिच्छा ही मनुष्य को पाप-पंक से बाहिर निकाल देती है। "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण है। यदि सदिच्छा से मनोभूमि को परिष्कृत कर लिया जाय तो इसमें पाप की जड़ लग ही नहीं सकती। मनुष्य के मन में यदि पापों से छुटकारा पाने की दृढ़ेच्छा हो गई है तो वह अवश्य ही पापबन्धन से मुक्ति पा सकता है। और इस प्रकार पापों से छुटकारा पाने पर जब शरीर, मन और आत्मा रोगों से मुक्त होकर स्वस्थ हो जावें तो मनुष्य की आयु उत्तम तथा पूर्ण हो सकती है। इसलिये इस मन्त्र में पापों से छूटने की इच्छा करने मात्र का ही उपदेश है।

पाप-निराकरण के उपाय

(२) पवित्रता और (३) शक्ति

व्यार्त्या पवमानो वि शक्रः पापकृत्यया। व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ अथर्व० ३ । ३१ । २ ॥

(पवमानः) पवित्र करने वाला (आर्त्त्या) दुःख-पीड़ा से (वि) अलग है, (शक्रः) शक्तिशाली (पापकृत्यया) पाप-कर्म से (वि) अलग है। (अहम्) मैं (सर्वेण) सब (पाप्मना) पापों से (वि) अलग रहूं, (यक्ष्मेण) क्षयरोग से (वि) अलग रहूं, (आयुषा) उत्तम और पूर्ण आयु से (सम्) संयुक्त होऊं ॥२०॥

भावार्थ—(१) इस मन्त्र में वि और सम् के साथ पूर्व मन्त्र में पठित वृत् धातु का सम्बन्ध करना चाहिये।

(२) मन्त्रगत पवमान और शक्र पद परमात्मा के नाम हैं। परमात्मा स्वयं पवित्र है और अन्यों को पवित्र करता है, अतएव दुःख-पीड़ा उसे नहीं होते। दुःख और कष्ट अपवित्र कर्मों के फल हैं, पवित्र कर्मों के नहीं। पवित्र कर्मों का फल सुख और आनन्द होता है। परमात्मा साधुकर्मा है, पवित्रकर्मा है, अतः उसे सर्वदा आनन्द होता है। उसके साथ दुःख और कष्ट का सम्पर्क नहीं। वह दुःख और कष्ट से सर्वदा अलग है। इस ऊपर लिखे सत्य सिद्धान्त के दर्शाने के लिये "व्यार्त्या पवमानः" ऐसे शब्द मन्त्र में रक्खे हैं; जिनका यह भाव है कि चूंकि परमात्मा पवमान है इसीलिये वह आर्ति अर्थात् कष्टों से अलग है। इसी प्रकार जो कोई भी

पूङ् पवने। (२) ऋ हिंसायाम्। (३) शक्लृ शक्तौ।

पवमान होगा अर्थात् स्वयं पवित्र होकर औरों को भी पवित्र बनावेगा वह दुःख और कष्टों से अवश्य छुटकारा पालेगा ।

(३) मन्त्र का दूसरा टुकड़ा है "वि शक्रः पापकृत्यया" । जिसका अर्थ यह है कि शक्तिशाली, पाप-कर्म से अलग रहता है । धर्मशास्त्रों में पापवृत्तियों को शत्रु कहा है । ये पापवृत्तियां बाह्यशत्रु नहीं अपितु अन्तःशत्रु हैं । बाह्यशत्रु, धन माल घर नगर पर प्रहार करते हैं और अन्तःशत्रु मन पर । शत्रुओं के रोकने के लिये समाज और राष्ट्र में शक्ति चाहिये । इस शक्ति के अभाव में शत्रु अवश्य ही उस समाज तथा राष्ट्र को दबा लेंगे । इसी प्रकार जिस मनुष्य में शक्ति नहीं कि वह अपने अन्तःशत्रुओं को रोक सके, उसके अन्तःशत्रु उसे अवश्य दबा लेंगे । परमात्मा शक्र है । वह शक्तिमान् है । अतएव वह पापकृत्या से अलग है । पाप का बल, शक्तिशाली परमात्मा पर कुण्ठित हो जाता है । इसी प्रकार जो मनुष्य पाप को परास्त करने के लिये अपने अन्दर शक्ति का संचय कर लेता है पाप उसे भी नहीं सताता । अतः प्रत्येक मनुष्य को आत्मिक बल का और मनःशक्ति का संचय करना चाहिये । शारीरिक बल का क्षय होना भी पाप का साधन बन जाता है ।

(४) अतः पापों से अलग रहने के दो उपाय इस मन्त्र के पूर्वार्ध में बताये हैं ।

(क) पवित्र होना, (ख) शक्ति प्राप्त करना । मन्त्र के उत्तरार्ध में पाप से अलग होने का (ग) तीसरा उपाय "पाप से अलग होने की इच्छा" बतलाया है । इस प्रकार इन उपायों द्वारा सब पापों से मुक्त होकर रोगों से मुक्त हो, हम उत्तम तथा पूर्ण आयु को पा सकते हैं ।

पाप-निराकरण के उपाय

(४) ब्रह्म

यथा वातश्च्यावयति भूम्या रेणुमन्तरिक्षाच्चाभ्रम् । एवा मत्सर्वं दुर्भूतं ब्रह्मनुत्तमपायति ।। अथर्व० १० । १ । १३ ।।

(यथा) जैसे (वातः) वायु (भूम्याः) भूमि से (रेणुम्) धूलि को (च) और (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (अभ्रम्) मेघ को (च्यावयति) विच्युत कर देता है । (एवा) इसी प्रकार (ब्रह्मनुत्तम्) ब्रह्म द्वारा धकेला हुआ (सर्वम्) सब (दुर्भूतं) पाप (मत्) मुझ से (अपायति) दूर हट जाता है ।।२१।।

भावार्थ--(१) वैदिक साहित्य में ब्रह्म शब्द द्वारा तीन अर्थ लिये जाते हैं । परमात्मा, वेद और ब्राह्मण । परन्तु इस मन्त्र में ब्रह्म शब्द द्वारा परमात्मा का ही ग्रहण प्रतीत होता है ।

(२) मन्त्र में चित्त को भूमि और अन्तरिक्ष से, दुर्भूत अर्थात् पाप को रेणू और अभ्र से, तथा वायु को ब्रह्म से उपमित किया गया है। वायु, भूमि से मृत्कणों को और अन्तरिक्ष से मेघों को, अनायास ही स्थानभ्रष्ट कर देता है। इसी प्रकार ब्रह्मरूपी वायु भी, चित्तरूपी भूमि और अन्तरिक्ष से, पापरूपी रेणु और अभ्र को धकेल कर दूर कर देता है।

(३) वायु के दृष्टान्त द्वारा ब्रह्म में पापों को दूर करने की स्वाभाविक शक्ति वतलाई है। पाप, रजोगुण और तमोगुण का धर्म है। योगदर्शन में लिखा है कि आराधना द्वारा ब्रह्म जब प्रसन्न हो जाता है तो वह भक्तों पर अनुग्रह करता है और भक्तों के रज तथा तम को दूर कर उन को समाधिलाभ शीघ्र कराता है। देखो योगदर्शन पा० १, सू० २३, तथा उस पर भाष्य। जब रज और तम दूर हुए तो रज और तम के धर्म भी दूर हो जाते हैं। पाप, रज और तम का ही धर्म है। पाप, सत्य का धर्म नहीं। अतः ब्रह्म द्वारा या ब्रह्मोपासना द्वारा पाप दूर हो जाते हैं यह सिद्धान्त स्पष्ट है।

(४) नुत्तम् पद पर विशेष ध्यान देना चाहिये। इस पद से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्रह्म अपने भक्तों के पापों को धकेलता है। अतः पापों को दूर करने में ब्रह्म, कृति-प्रधान-साधन (Active agent) है। अतः जिन लोगों की यह कल्पना है कि उपासना केवल Acto suggestion (स्वोद्बोधन) द्वारा ही उपासक को फल देती है, वे भ्रम में हैं। उपासना में स्वोद्बोधन के आंशिक सामर्थ्य से इन्कार किसी को नहीं। परन्तु उपासना का मुख्य प्रयोजन, उपास्य देव को प्रसन्न कर उस की प्रसन्नता का भाजन वनाना ही है। जव परमात्मा उपासना द्वारा प्रसन्न हो जाते हैं, तो वे, भक्त के पापों को दूर करते और उस की सत्य मनोवाञ्छा को पूरा करते हैं। उपासना में परमात्मा के इस Active रूप का निर्देश करने के लिये ही मन्त्र में नुत्तम् पद दिया प्रतीत होता है।

(५) जब मनुष्य पाप कर लेता है उस के वाद उस के मन में थोड़ा बहुत दुःख अवश्य होता है। और वह कहता है कि "बुरा हुआ" अर्थात् मैंने अच्छा नहीं किया। दुर्=बुरा, भूतम् हुआ। मनुष्य पाप को दृष्टि में रख कर ही "दुर्भूतम्" कहता है; अतः पाप का नाम ही 'दुर्भूतम्' पड़ गया है।

(६) ओषधि कोई तो एक बीमारी को दूर हटाती है कोई दूसरी को। परन्तु परमात्मा की भक्ति एक ऐसी औषध है जो कि सभी पापरूपी रोगों को दूर हटाता है। अतएव मन्त्र में 'सर्वम्' पद रक्खा है।

पाप निराकरण के उपाय

(५) पापवृत्ति को वशीभूत करना

अव मा पाप्मन् सृज दशी सन् मृडयासि नः। आ मा भद्रस्य लोके पाप्मन् धेह्यविहुतम्॥ अथर्व० ६।२६।१॥

(पाप्मन्) हे पाप! (मा) मुझे (अवसृज) छोड़ दे, (वशी) हमारे वशीभूत (सन्) होकर (नः) हम को (मृडयासि) सुखी कर। (मा) मुझे। (अविहुतम्) कुटिलता से जुदा करके (भद्रस्य) कल्याण और सुख के (लोके) लोक में (आधेहि) स्थापित कर ॥२२॥

भावार्थ—(१) जिस प्रकार कोई मनुष्य किसी हत्यारे के चुंगल में फंसा हुआ, उस से छूटने के लिए किसी अन्य उपाय को हस्तगत न जान, उसी से अनुनय-विनय करने लगता है इसी प्रकार की अवस्था का वर्णन इस मन्त्र में है। जब मनुष्य पाप की पकड़ से निकल नहीं सकता, परन्तु निकलना चाहता है तब वह पाप से ही छुटकारे के लिये विनय करता है कि हे पाप! तू कृपा कर मुझे छोड़ जा। परन्तु जब वह विनय से भी नहीं मानता, तब छुटकारा पाने वाला धैर्यावलम्बन कर उसे अपनी इच्छाशक्ति के आधीन करना चाहता है, और कहता है कि तू हमारे वशीभूत हो, और वशीभूत होकर हम को सुखी कर। पापवृत्तियों को जब वश में कर लिया जाता है तब मनुष्य को सुख होता है। उसका चित्त शान्त और सन्तुष्ट हो जाता है। परन्तु इस प्रयत्न के करने के बाद भी पाप जब वशीभूत नहीं होता, तब मनुष्य पुनः अनुनय-विनय का मार्ग पकड़ता है। और पाप से कहता है कि हे पाप! तू कृपा कर, मुझे कुटिल मार्ग से पृथक् कर, मुझे भद्रमार्ग में स्थापित कर। इस प्रकार, पाप से छूटने की इस प्रथम अवस्था में, डाँट-डपट, अनुनय-विनयरूपी साधन का ही आश्रय लेना पड़ता है। जिन लोगों ने अपनी पापमयी वृत्तियों के जीतने में कुछ भी प्रयत्न किया है, वे इस साधन की खूबी को अच्छे प्रकार समझ सकते हैं।

(२) पाप भी हमें पुण्य का रास्ता दिखलाता है। पाप जब अन्तिम कोटि तक पहुंच जाता है तब चित्त में प्रतिक्रिया (Re-action) पैदा होने लगती है। और पापी उस समय पुण्य मार्ग पर पग रखने लगता है। इसी अभिप्राय से मन्त्र में कहा है कि भद्रलोक में पहुंचाने की शक्ति पाप में भी है। भद्रलोक का अर्थ श्रेय और प्रेयमार्ग है।

(३) 'अविहुतम्' पद द्वारा यह सूचित किया गया है कि मन में जबतक कुटिलता रहती है तब तक मनुष्य भद्रलोक में नहीं जा सकता अर्थात् भद्र नहीं बन सकता। कुटिलता सब पापों का पूर्वरूप अर्थात् कारण है। कुटिलता का अर्थ है

टेढ़ापन। मन जब सीधा अर्थात् अपनी स्वाभाविक अवस्था में होता है तब वह पापों की ओर नहीं झुकता। मन जब पाप करने में झुकता है तो उसे अपने स्वाभाविक रूप को छोड़ना पड़ता है और एक टेढ़ा रूप धारण करना पड़ता है। अतः मन को अपनी स्वाभाविक सरल अवस्था में रखना भी पापों से छूटने का उपाय है।

पाप निराकरण के उपाय

(६) दृढ़ संकल्प

यो नः पाप्मन् न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम् ॥ अथर्व० ६।२६।२॥

(पाप्मन्) हे पाप ! (यः) जो तू (नः) हम को (न) नहीं (जहासि) छोड़ता है (तम्) उस (त्वा) तुझ को (वयम्) हम (उ) ही (जहिमः) छोड़ देते हैं ॥२३॥

भावार्थ—(१) इस मन्त्र में पाप के निराकरण के लिये दृढ़ संकल्प अथवा दृढ़ इच्छाशक्ति रूपी उपाय का अवलम्बन किया है। "यदि पाप हमें नहीं छोड़ता तो हम ही पाप को छोड़ देते हैं" यह दृढ़ संकल्प का एक स्वरूप है। इस प्रकार का दृढ़ निश्चय कि "अब हम ने पाप को छोड़ दिया है" "पाप अब हमारे पास नहीं आवेगा" पापमयी वृत्तियों पर अवश्य विजय पा लेता है।

(२) मन्त्र में "नः" और "वयम्" पद आये हैं। इन से प्रतीत होता है कि यह मन्त्र पाप के विरुद्ध अनेक व्यक्तियों के युगपद् दृढ़ निश्चय की ओर भी निर्देश करता है। अर्थात् इस मन्त्र से स्पष्ट ज्ञात होता है कि "पापों के निराकरण के लिये कई मनुष्यों को चाहिये कि वे एक स्थान में बैठकर एक साथ मन की वृत्तियां को मजबूत करें और पुनः पाप न करने के लिये दृढ़ संकल्प करें तथा वृत्त्यारूढ़ पाप और उनके संस्कारों के समूल नाश के लिये दृढ़ेच्छा-शक्ति का प्रयोग करें"। दृढ़ संकल्प की यह विधि वैदिक कर्तव्यशास्त्र का मूल है।

पाप निराकरण के उपाय

(७) यज्ञ और (८) सत्यसंकल्प

मह्यम् यजन्तां मम यानीष्टाकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु। एनो मा निगां कतमच्चनाहं विश्वे देवा अभिरक्षन्तु मेह ॥ अथर्व० ५।३।४॥

(मम) मेरे (यानि) जो (इष्टा)१ किये हुए देवपूजन, सत्संग और दान हैं वे (मह्यम्) मुझे (यजन्ताम्) प्राप्त रहें, (मे) मेरे (मनसः) मन का (आकूतिः) संकल्प (सत्या) सत्य (अस्तु) हो। (अहम्) मैं (कतमत्) किसी (चन) भी (एनः) पाप को (मा) न (निगाम्) प्राप्त होऊं, (इह) इस विषय में (विश्वे) सब (देवाः)

१-इष्ट शब्द यज् धातु से बना है जिसके हैं अर्थ देवपूजा, सत्संग और दान।

देव (मा) मेरी (अभिरक्षन्तु) पूर्ण रक्षा करें ।।२४।।

भावार्थ—इस मन्त्र द्वारा तीन इच्छाएं प्रकट की गई हैं।

(१) मैंने भूतकाल में जो देवपूजन, सत्संग तथा दान किया है, उसे मैं अब भी करता रहूं, वे कर्म मुझे सर्वदा प्राप्त रहें, मैं उन्हें कभी मत छोड़ूं।

(२) मेरा मानसिक संकल्प सत्यरूप हो। मैं कभी असत्य संकल्प न करूं। जो इच्छाएं करूं वे सर्वदा सत्यरूप ही हों।

(३) मैं किसी भी पापकर्म को न करूं।

ये तीन इच्छायें हैं। सदिच्छाओं के करने से प्रवृत्तियाँ भी सत् होती हैं, क्योंकि इच्छा ही प्रवृत्ति का कारण है। देवपूजन, सत्संग और दान से प्रवृत्त्यात्मक विधिरूप धर्म का निर्देश किया है। इन में प्रवृत्त रहने से मनुष्य का चित्त एक ओर लगा रहता है, अत: वह पापकर्मों की ओर नहीं झुकता। देवपूजन से अभिमान और दान से स्वार्थ का भाव भी शिथिल हो जाता है। अभिमान और स्वार्थभाव स्वयं भी पापों की ओर ले जाने वाले हैं। इनके हट जाने से मन पापों से भी हट जाता है। सत्संग द्वारा सद्गुणों का संक्रम सत्संग करने वाले के चित्त में होता है। इस प्रकार देवपूजन, दान और सत्संग ये तीनों ही पापमार्ग से हटाने वाले हैं। देवपूजन, दान और सत्संग ये चेष्टारूप अर्थात् क्रियारूप धर्म हैं।

इस चेष्टारूप धर्म के साथ-साथ इच्छारूप धर्म भी होना चाहिये। सत्य और शुभ इच्छाओं के करने और वारम्वार करने से भी मन पापों की आर नहीं जाता। अत: चेष्टारूप सत्कर्म और सदिच्छारूप सत्कर्म (सत्यसंकल्प) जब मिल जाते हैं तो वे अवश्य ही मनुष्य को पापकर्मों से हटा देते हैं। मैं किसी पापकर्म को न करूं, इस प्रकार की तीसरी इच्छा भी मनुष्य की पापकर्मों से रक्षा करती है। इस प्रकार की इच्छा भी पापकर्म की साक्षात् विरोधिनी है।

अत: उपरोक्त तीनों इच्छाओं के प्रवल हो जाने पर मनुष्य की फिर पापकर्मों में प्रवृत्ति नहीं होती। इन तीन इच्छाओं के होते हुए एक और वस्तु भी अपेक्षणीय है जो सदाचार के लिये अत्यावश्यक है। वह है "देवसंरक्षण"। दिव्य गुणों वाले सज्जनों की संरक्षा में रहना, उन द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलना, सदाचारी होने का अतिसुगम और निश्चित उपाय है। इसीलिये वैदिक सिद्धान्त में सदाचार आदि की शिक्षा के लिये ब्रह्मचारी को आचार्य देव की संरक्षा में छोड़ने का विधान पाया जाता है।

पाप निराकरण के उपाय

(९) पापों में दोषदर्शन और (१०) पापों की कामना का त्याग

परोपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि। परेहि न त्वा कामये, वृक्षां बनानि संचर गृहेषु गोषु मे मनः ।। अथर्व० ६।४५।१।।

(मनस्पाप) हे मानसिक पाप ! (परः) दूर (अपेहि) हटजा, (किम्) क्यों (अशस्तानि) अप्रशस्त कामों की (शंससि) तू प्रशंसा-स्तुति करता है। (परेहि) दूर चला जा, (त्वा) तुझे (न, कामये) मैं नहीं चाहता, (वृक्षान्) वृक्षों और (बनानि) बनों में (संचर) फिरता रह, (मे) और मेरा (मनः) मन (गृहेषु) गृह-कृत्यों और (गोषु) गौ आदि पशुओं की सेवा में लगा रहे।।२५।।

भावार्थ—(१) पाप तीन प्रकार के होते हैं। मन के, वाणी के और काय के। मानसिक पाप, वाणी और काय द्वारा किये जाने वाले पापों के कारण हैं। मन में यदि कोई पाप नहीं तो वचन और काय भी पापरहित रहेंगे। अतएव इस मन्त्र में मानसिक पापों के हटाने का दर्शन है।

(२) पापरूपी जाल में फंसा हुआ मन सर्वदा अकर्तव्य कर्मों की प्रशंसा किया करता है। यथा:—"इस काम को कर लेना चाहिये" "यह काम अच्छा है" "देखो उसने भी किया था" "संसार में ऐसा ही चला आया है" "देखो संसार में ऐसे काम करने वाले कितने समृद्ध बने हुए हैं" इत्यादि कई वाक्यों में मन पाप की प्रशंसा किया करता है।

(३) इस मन्त्र में मानसिक पाप को सम्बोधित किया है। उस के हटाने के लिए उसे कल्पना द्वारा मन के सन्मुख खड़ा किया है। और उस के लिये कहा है कि तू दूर हट जा, बुरे कार्यों की प्रशंसा मत कर, चला जा, मैं तुझे नहीं चाहता। इन और इस प्रकार के अन्य वाक्यों के वाग्भाषण अथवा मनोभाषण से प्रवक्ता के चित्त में पाप के विरुद्ध दृढ़ भावना पैदा हो जाती है। इस प्रकार से पापों के विरुद्ध यदि मनुष्य लगातार अभ्यास करेगा तो वह अवश्य ही उन पर विजय पा लेगा, इस प्रकार अभ्यास करते-करते अभ्यासी के मन में पापों के लिये घृणा पैदा हो जाती है। अतः ऊपर कहे हुए प्रकार से प्रत्येक मनुष्य को अभ्यास करना चाहिये।

(४) यह मन्त्र गृहस्थ के सम्बन्ध का प्रतीत होता है। यतः मन्त्र में "गृहेषु गोषु मे मनः" ये पद आये हैं। वह यह कि "पापवृत्तियों के जीतने के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य सुस्त न बैठे। किसी न किसी उत्तम काम में अवश्य लगा रहे"। इसीलिये मंत्र में कहा है कि मेरा मन गृहकृत्यों और गोसेवा में लगा रहे।

क्योंकि मानसशास्त्र का यह नियम है कि (क) मन निकम्मा नहीं रह सकता। (ख) उसमें दो भाव इकट्ठे नहीं रह सकते। (ग) तथा जिस भाव पर विजय पाना हो उससे विरोधी भाव को मानसस्थली में उपस्थित रखना चाहिये"। मन्त्र में के 'परेहि' 'न त्वा कामये' आदि सद्भाव पाप भावों के विरोधी हैं। अतः पापवृत्तियों के हटाने के लिये ऐसे भावों को चित्त में स्थान देना चाहिये।

कामना की प्रबलता से अन्तःशत्रुओं का पराजय

जहि त्वं काम मम ये सपत्ना अन्धा तमांस्यव पादयैनान्। निरिन्द्रियाः अरसाः सन्तु सर्वे मा ते जीविषुः कतमच्चनाहः ॥ अथर्व० ६।२।१०॥

(काम) हे इच्छा-शक्ति ! (मम) मेरे (ये) जो (सपत्नाः) शत्रु हैं उनको (त्वम्) तू (जहि) मार डाल, (एनान्) इनको (अन्धा=अन्धानि) गाढ़ (तमाँसि) अन्धकार में (अवपादय) नीचे गिरा दे। (ते) वे (सर्वे) सब (निरिन्द्रियाः) इन्द्रिय-शून्य तथा (अरसाः) नीरस-निर्वीर्य (सन्तु) हो जावें, और (कतमत्) किसी एक (अहः) दिन (चन) भी (मा) न (जीविषुः) जीवें ॥२६॥

भावार्थः—(१) इस मन्त्र में इच्छाशक्ति का सामर्थ्य बतलाया है। इस समय सूक्त का पढ़ना बहुत लाभकारी होगा। समग्र सूक्त ही इच्छाशक्ति की महिमा का वर्णन करता है। इस मन्त्र के आध्यात्मिक भाव पर विशेष ध्यान देना चाहिये। मनु महाराज ने ६ अन्तःशत्रुओं को गिनाया है। यथा (१) काम (२) क्रोध (३) लोभ (४) मोह (५) मद (६) अहंकार। ये ही ६ सपत्न हैं। सपत्न शब्द सपत्नी से बना प्रतीत होता है। सपत्नियों में पारस्परिक विरोध प्रसिद्ध है! चित्त-रूपी पति की भी दो स्त्रियाँ है एक शुभवृत्ति और दूसरी अशुभवृत्ति। इन में भी परस्पर विरोध है। काम क्रोधादि ६ शत्रु अशुभवृत्तिरूप हैं। अतः ये मनुष्य या मनुष्य की शुभवृत्तियों के शत्रु हैं।

(२) मनु महाराज के दर्शाये ६ शत्रुओं में से काम का अर्थ है शत्रुरूप काम अर्थात् विषय-कामना। परन्तु मन्त्रगत काम शत्रुरूप नहीं, वह परम मित्र है। इस काम का अर्थ है इच्छाशक्ति। यह इच्छाशक्ति उपरोक्त ६ शत्रुओं का नाश कर सकती है। इन ६ शत्रुओं के हनन के लिये दृढ़ इच्छाशक्ति के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं। यम नियमादि साधनों का पालन भी दृढ़-इच्छा-शक्ति के बिना नहीं हो सकता। दृढ़-इच्छाशक्ति ही इन अन्तःशत्रुओं के नाश का अमोघास्त्र है।

(३) मंत्र में "निरिन्द्रियाः" का एक विशेष भाव है। कामादि अन्तःशत्रु इन्द्रियों द्वारा ही भोग भोगते या भुगवाते हैं। मन में रहते हुए भी जब तक ये

इन्द्रियों पर अधिकार नहीं जमाते तब तक इन के विषय भोगे नहीं जा सकते। कामी के मन में काम-चेष्टा का भाव तो जागृत हुआ, परन्तु इस कुचेष्टा की इच्छा से प्रेरित हुआ मनुष्य जब तक काम के विषय को इन्द्रियारूढ़ नहीं करता, तब तक वह कामरूपी शत्रु द्वारा पराजित हुआ नहीं समझा जाता। परन्तु काम के विषय के इन्द्रियारूढ़ होते ही मनुष्य पूर्णरूप में काम से पराजित हो जाता है। इसी प्रकार क्रोधादि के विषय में भी जानना चाहिये। ये शत्रु भी काम की न्याई अपनी-अपनी इन्द्रियों को द्वार बनाकर ही अपने-अपने विषयों का भोग कराते हैं। मनुष्यों को परास्त करने के लिये, इन्द्रियाँ मानो इन ६ शत्रुओं के द्वार अर्थात् रास्ते हैं। इसीलिये मंत्र में "निरिन्द्रिया:" पद से इन शत्रुओं का वर्णन किया है। ये शत्रु निरिन्द्रिय हों। इन शत्रुओं का हमारी इन्द्रियों के साथ संबन्ध न हो। मार करने में ये इन्द्रिय-द्वारों के प्रभु न हों। अर्थात् उन की सत्ता केवल मन तक ही सीमित रहे, वे इस सीमा को लांघ कर इन्द्रिय सीमा पर प्रहार न करें - उनका निवास केवल मनोभूमि में ही हो, वे इन्द्रियभूमि में अपना पग न रख सकें। इस प्रकार "निरिन्द्रिया:" पद से इन शत्रुओं के प्रावल्य रूप का निषेध किया है। भाव जा मन में उठ कर मन में ही लीन हो जाते हैं, उनकी अपेक्षा वे भाव अधिक बली होते हैं जो कि मन में पैदा होकर बाह्य इन्द्रियों की क्रियाओं या व्यापारों में भी परिणत हो जाते हैं।

(४) परन्तु कामादि की सत्ता इस निर्बल अर्थात् निरिन्द्रय अवस्था में भी न रहनी चाहिये। निर्बल शत्रु समय पाकर प्रबल हो सकता है। अतः मन में भी इन का निवास सदाचार-शास्त्र की दृष्टि से अभीष्ट नहीं। इसी सिद्धान्त के दर्शाने के लिये मन्त्र में "अरसा:" यह पद दिया है। शरीर में जब तक रस का संचार है तब तक जीवन है। रस प्राण-शक्ति का सहचारी है। रस के क्षीण होते ही प्राण-शक्ति भी जवाब देने लगती है। अत: रस, जीवन का प्रतिनिधि है। अतः "ये शत्रु अरस हों" इसका अभिप्राय यही है कि इन शत्रुओं का नाश हों। ये सूख जायें। इनमें रस बिलकुल न रहे। इन का प्राणान्त हो जावे। कुसंस्कार ही इन शत्रुओं के रस हैं। इसी रस से इन शत्रुओं के देह की स्थिति होती है। यदि मनोभूमि से इन कु-संस्कारों को निकाल दिया जावे तो ये शत्रु भी मनोभूमि को छोड़ जायेंगे। अतः "अरसा:" पद से कुविचार तथा कुसंस्कार रूप से भी स्थित इन शत्रुओं के विनाश के लिये प्रेरित किया गया है। दृढ़-इच्छा-शक्ति के कुठार से, अन्तःशत्रु रूपी वृक्ष की, कुसंस्कार रूपी जड़ भी काटी जा सकती है। इसलिये इस दृढ़-इच्छा-शक्ति की प्राप्ति के लिये मनुष्य को अवश्य ही यत्नवान् होना चाहिये।

(५) मनुष्य को यत्न करना चाहिए कि ये शत्रु एक दिन भी जीवित न

रह सकें। अर्थात् मनुष्य एक दिन भी कामादि के वशीभूत न हो। (कतमच्चनाहः) यह उत्तम जीवन का आदर्श है।

कामना दो प्रकार की है

(१) भद्र और (२) अभद्र

यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्राः याभिः सत्यं भवति यद्वृणीषे। ताभिष्ट्वमस्मां अभि संविशस्वान्यत्र पापीरप वेशया धियः ।। अथर्व० ९। २। २५।

(काम)१ हे कामना ! (याः) जो (ते) तेरी (शिवाः) शुभ तथा (भद्राः) सुख और कल्याण के देने वाली (तन्वः) तनु हैं, (याभिः) जिन से (यद्) जो (वृणीषे) तू चाहती है वह (सत्यम्) सत्य (भवति) हो जाता है, (ताभिः) उन तनुओं के साथ (त्वम्) तू (अस्मान्) हम में (अभिसंविशस्व) अच्छे प्रकार प्रवेश कर। और (पापीः) पापयुक्त (धियः) विचारों को (अप) हम में से निकाल कर (अन्यत्र) अन्यत्र कहीं (वेशया) प्रविष्ट कर ।।२७।।

भावार्थः—(१) इस मंत्र में इच्छा का ही वर्णन है। इच्छा की तनु अर्थात् देह दो प्रकार की है। यहां तनु का अर्थ है, स्वरूप अथवा प्रकार। अतः अभिप्राय यह हुआ कि इच्छा के दो स्वरूप हैं या इच्छा दो प्रकार की है। एक शुभ और दूसरी अशुभ। एक शिव और दूसरी अशिव। एक भद्र और दूसरी अभद्र। इच्छा के इन दो प्रकारों का वर्णन व्यास ऋषि ने योगभाष्य में निम्नलिखित रूप से किया है। "चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी, वहति कल्याणाय च वहति पापाय च" योगदर्शन १। १२।। इसका अभिप्राय यह है कि चित्त एक नदी है जो दो ओर बहती है। कल्याण की ओर और पाप की ओर। मन्त्र में भी काम अर्थात् इच्छा के दो रूप दर्शाये हैं। एक "शिवास्तन्वः" इन शब्दों से और दूसरा "पापी धियः" इन शब्दों से। शिव का अर्थ होता है कल्याण और पाप पद मंत्र तथा योगभाष्य दोनों में समान है।

(२) मन्त्र में यह भी कहा है कि शुभ इच्छाओं में बहुत बल होता है। शुभ इच्छाओं वाला मनुष्य जो चाहता है वह पूरा हो जाता है। इसीलिये मन्त्र में "सत्यं भवति यद्वृणीषे' कहा है। पापी जन की इच्छाओं में वह बल नहीं होता। योग की आश्चर्यकारी सिद्धियां भी इसी शुभ इच्छा के परिणाम हैं। अतः शुभ इच्छाओं की प्राप्ति और अशुभ इच्छाओं का त्याग करना चाहिये।

---

१ कमु कान्तौ, कान्तिरिच्छा ।।

संसार-ग्राह से बचने का उपाय

संसार में लिप्त न होना

इदमहं रुशन्तंग्राभं तनूदूषिमपोहामि । यो भद्रो रोचनस्तमुदचामि ॥ अथर्व० १४ । १ । ३८ ॥

(अहम्) मैं (इदम्) इस (रुशन्तम्) चमकीले भड़कीले (तनूदूषिम्) शरीर को दूषित करने वाले (ग्राभम्) संसार-ग्राह को (अपोहामि) त्यागता हूं। (यः) जो (भद्रः) सुखकर और कल्याणमय तथा (रोचनः) रुचिररूप है (तम्) उसको (उत्) उत्तम होकर (अचामि) प्राप्त होता हूं ॥३८॥

भावार्थः—ग्राभ पद में ग्रह धातु है। वस्तुतः यह ग्राह शब्द है। ह को भ हो गया है। ग्राह का अर्थ नाका (मगरमच्छ) होता हैं इस मन्त्र में संसार का ग्राह-रूप से वर्णन है।

(१) यह संसारग्राह बड़ा चमकीला-भड़कीला है। वह अपनी चमक से जनता को अपनी ओर खींच लेता है।

(२) जो मनुष्य इस संसारग्राह की ओर खिच जाते हैं उन की देह दूषित हो जाती है। भोग का यह परिणाम स्वाभाविक ही है।

(३) और अन्त में वे भोगी इस संसार-ग्राह के मुख के ग्रास बनकर नष्ट हो जाते हैं। रुश् का अर्थ हिंसा भी है। जिससे यह भाव सूचित होता है कि चमकीला संसार-ग्राह हिंसक है। यह हुआ प्रेयमार्ग का वर्णन।

श्रेयमार्ग का वर्णन मन्त्र के अगले आधे भाग में है। प्रकृति में न फंस कर परमात्मा की ओर झुकना यह श्रेयमार्ग है। परमात्मा भद्र है, रुचिर है उस को प्राप्त होने के लिये प्रथम संसार-ग्राह का त्याग करना चाहिये। इस प्रकार मनुष्य प्रथम अपने आप को उत्तम बना कर, पुनः उस परमात्मा की प्राप्ति कर सकता है।

परन्तु प्रश्न पैदा होता है कि संसार का त्याग क्या वैदिक सिद्धान्तानुकूल है ?। उत्तर है, नहीं। अपितु संसार साधन है परमात्मा की प्राप्ति का। संसार परमात्मा का निवास-गृह है। संसार और परमात्मा ये दो विरोधी मार्ग नहीं।

तो पुनः इस मन्त्र में संसार-त्याग के लिये क्यों प्रेरित किया ? उत्तर यह है कि मंत्र में संसार-त्याग के लिये कोई प्रेरणा नहीं। संसार को ग्राह नहीं बनने देना चाहिये, केवल इतना ही मन्त्र में कहा है। ग्राहरूपी ससार का त्याग करना चाहिये, न कि अग्राह-रूपी संसार का भी। संसार में ग्राहपन न आने दो, संसार

त्याग का यही अभिप्राय है। संसार के भोगने से संसार ग्राह नहीं बनता, अपितु संसार के भोगों में लिप्त होने से संसार ग्राह बन जाता है। यह न होने देना चाहिये। यही मन्त्र का अभिप्राय है।

ईर्ष्या मननशक्ति को मार देती है

यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा। यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतंमनः ॥ अथर्व० ६। १८। २॥

(यथा) जैसे (भूमिः) पृथिवी (मृतमनाः) मननशक्ति से शून्य है, (मृतात्) मुर्दे से भी अधिक (मृतमनस्तरा) मननशक्ति से शून्य है। (उत) तथा (यथा) जैसे (मम्रुषः) मरे हुए का (मनः) मन होता है (एवा) इसी प्रकार (ईर्ष्योः) ईर्षा करने वाले का (मनः) मन (मृतम्) मरा हुआ होता है ॥२६॥

भावार्थः—(१) ईर्ष्या कहते हैं "पराभ्युदयासहनम्" दूसरे के अभ्युदय अर्थात् उन्नति को न सहना ईर्ष्या कहाती है।

(२) ईर्ष्या की चित्तवृत्ति से बहुत हानियां होती हैं। यथा (क) वेद में ईर्ष्या को "हृदय्य अग्नि" अथर्व० ६।१८।१॥ कहा है। हृदय्य अग्नि का अर्थ है हृदय की आग। ईर्ष्या वास्तव में अग्निरूप है। यह प्रेमभाव को भस्मीभूत कर देती है। (ख) मनुष्य ईर्ष्याविद्ध होकर कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विवेक से शून्य हो जाता है। (ग) ईर्ष्यावृत्ति के कारण मनुष्य में न्यायवृत्ति नहीं रहती। (घ) और उसमें स्वार्थ की मात्रा दिनोंदिन बढ़ती जाती है। (ङ) वह दूसरे को नुकसान पहुंचाने में धर्माधर्म के मार्ग का ख्याल नहीं करता। (च) लोकलज्जा की भी उसे परवाह नहीं रहती।

(३) ईर्ष्या का ऐतिहासिक दृष्टान्त यदि चाहिये तो हम दुर्योधन को पेश कर सकते हैं। उसके सुवीर होते हुए भी, जो वह दुर्गुणों की खान बना हुआ था, उसमें मूल उसका ईर्ष्याभाव ही था अतः ईर्ष्या से सर्वदा दूर रहना चाहिये।

(४) ईर्ष्या से मन मारा जाता है। ईर्ष्यालु में मननशक्ति नहीं रहती। मननशक्ति और विचारशक्ति का अभिप्राय एक ही है। इस अवस्था को समझाने के लिये मन्त्र में दो दृष्टान्त दिये हैं, एक तो भूमि का और दूसरा मम्रुष का। भूमि अर्थात् मिट्टी में मननशक्ति नहीं होती। मिट्टी में कभी भी मननशक्ति नहीं हुई वह मृतमना है। उसमें मननशक्ति हमेशा से मरी हुई है। अतएव वह मृतों से भी मृतमनस्तर है। मृतों में मरने से पूर्व तो मननशक्ति रहती ही है। मरने पर उनमें मननशक्ति नहीं रहती। मट्टी मरे हुओं की अपेक्षा भी अधिक मरे हुए मन वाली है।

यतः इसके साथ मननशक्ति का कभी भी सम्बन्ध नहीं हुआ। मिट्टी में मननशक्ति का लेशमात्र भी नहीं। अतः वह मृतान्मृतमनस्तर है। वह मनुष्य जो प्रथमतः ही ईर्ष्यालु है, जिसमें ईर्ष्या के कारण मननशक्ति का अंकुर उगा ही नहीं, वह मिट्टी के समान है। मिट्टी जिस प्रकार विचारशक्ति से हमेशा से शून्य है वैसे ही वह मनुष्य भी विचारशक्ति से हमेशा से शून्य रहता है जो उत्पत्ति काल से ही ईर्ष्यालु है। दूसरा दृष्टान्त है मम्रुष का मम्रुष का अर्थ है मर गया हुआ; जो कि पहिले जीवित था, पर अब जीवित नहीं। अर्थात् जिसमें जीवितावस्था में मन काम करता था, परन्तु अब मृतावस्था में वह काम नहीं करता। इसी प्रकार की अवस्था उस मनुष्य की हो जाती है जो कि पहिले तो ईर्ष्यालु न था, किन्तु अब किसी कारण से ईर्ष्या वाला हो गया है। मनुष्य जब तक इर्ष्यालु नहीं तब तक वह जीवित मनुष्य के समान है जिसमें कि मन कार्य कर रहा है, परन्तु मनुष्य जब ईर्ष्यालु हो जाता है तब वह उस मनुष्य के समान हो जाता है, जो कि मरा हुआ है। जिसमें अब मन काम नहीं करता। जो कि अब लोथमात्र शेष रह गया है। वास्तव में ईर्ष्यालु मनुष्य मिट्टी और लोथ के समान है। ईर्ष्यालु मनुष्य का मन बिलकुल मारा जाता है। ईर्ष्या से जकड़े रहने के कारण उसके मन का पूर्ण विकास नहीं हो सकता। अतः ईर्ष्यावृत्ति से अवश्य छुटकारा पाना चाहिये।

वैदिक मेधा से दिव्य गुणों की रक्षा

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्। प्रपीतां ब्रह्मचारिभिः देवानामवसे हुवे॥ अथर्व० ६। १०८। २॥

(अहम्) मैं (प्रथमाम्) अनादि (ब्रह्मण्वतीम्) वेदप्रतिपादित (ब्रह्मजूताम्)१ ब्रह्मज्ञानियों द्वारा सेवित (ऋषिष्टुताम्) ऋषियों द्वारा प्रशंसित (ब्रह्मचारिभिः) ब्रह्मचारियों द्वारा (प्रपीताम्)२ अच्छे प्रकार पान की गई (मेधाम्) मेधा का (देवानाम्) दिव्यगुणों की (अवसे) रक्षा के लिये (हुवे) आह्वान करता हूं ॥३०॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उस मेधा का वर्णन किया है जिसका वेद में प्रतिपादन है। वह अनादि काल से वर्तमान है चूंकि वेद अनादि हैं। ब्रह्मज्ञानी लोग ऐसी मेधा का ही सेवन करते हैं। ऋषिजन ऐसी मेधा की ही स्तुति करते हैं। ब्रह्मचारी इसी वैदिक मेधा की प्राप्ति के लिये तप तथा ब्रह्मचर्यव्रत में निष्ठावान् होते हैं। इसी मेधा की प्राप्ति से हम में दिव्यगुण आ सकते हैं। मनुष्यगत दिव्यगुणों की रक्षा इस मेधा की प्राप्ति के बिना असम्भव है। इस वैदिक मेधा की प्राप्ति के लिये वेदों का स्वाध्याय नित्य करना चाहिये।

---

(१) जूति का अर्थ है—गति तथा प्रीति, निरु० १०।२८॥ (२) पा—पीना।

मन, वाणी और कर्म में मधुरता

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्। ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ अथर्व० १ । ३४ । २ ॥

(मम) मेरी (जिह्वायाः) जिह्वा के (अग्रे) अगले भाग पर (मधु) मधु हो, (जिह्वामूले) और जिह्वा की जड़ में (मधूलकम्) माधुर्य्य हो। हे माधुर्य्य! तू (मम) मेरे (क्रतौ) कर्म में (अह) अवश्य (इत्) ही (असः) हो, (मम) मेरे (चित्तम्) चित्त में (उपायसि) तू प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

भावार्थः—(१) इस मन्त्र में सह दर्शाया है कि माधुर्य की प्राप्ति के लिये दृढ़-इच्छा-शक्ति या दृढ़-संकल्प का प्रयोग करना चाहिये। यदि मनुष्य दृढ़-संकल्प करले कि मैंने कभी भी कटु-वचन नहीं बोलने, सर्वदा मधुर वचन ही बोलने हैं, तो वह मनुष्य कटुवचनों पर या अपनी वाणी पर अवश्य विजय पा लेगा।

(२) मन्त्र में जिह्वा. क्रतु[1] औरं चित्त इन तीन का वर्णन है। परन्तु इनका आर्थिक क्रम निम्न प्रकार से होना चाहिये, चित्त-जिह्वा-क्रतु। जैसे कि कहा है "यन्मनसा मनुते तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति"। अर्थात् मनुष्य मन से जिसका मनन करता है उसे वह वाणी द्वारा बोलता है, और जो वाणी द्वारा बोलता है उसे कर्म से करता है। मन्त्र में चित्त शब्द से मन का, जिह्वा से वाणी का और क्रतु से कर्म का ग्रहण करना चाहिये। अतः इस मन्त्र में मन, वाणी और कर्म इन तीनों की मधुरता का वर्णन है। इस मधुरता के लिये किसी बाह्य औषध की आवश्यकता नहीं। और न कोई ऐसी बाह्य औषध है भी कि जिसके खान पान से मनुष्य दूसरों के लिये भला सोचने, बोलने और करने लग जाय। इसके लिये तो आन्तरिक औषध ही चाहिये। उसी के निरन्तर श्रद्धापूर्वक सेवन से मधुरता हमें मिल सकती है। यह आन्तरिक औषध, दृढ़-इच्छा-शक्ति या दृढ़ संकल्प मात्र ही है।

माधुर्यमय जीवन

मधोरस्मि मधुतरो मदुधान्मधुमत्तरः। मामित्किल त्वं वनाः शाखां मधुमतीमिव ॥ अथर्व० १ । ३४ । ४ ॥

(मधोः) मधु से (मधुतरः) अधिक मधुर (अस्मि) मैं हूं, (मदुघात्) मधुमहे पदार्थ से (मधुमत्तरः) मैं अधिक मधुर हूं। हे मधु! (त्वं) तू (माम्) मुझ को (इत्) अवश्य (वनाः) प्राप्त हो, (इव) जैसे (मधुमतीम्) मधु वाली (शाखाम्) शाखा को मधु प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

---

१ क्रतु—कर्म, निघं० २ । १ ।

भावार्थः—मधु का अर्थ है शहद, जिसे माख्यों भी कहते हैं। मनुष्य अपने चित्त में ऐसी भावना करें कि मैं वास्तव में शहद से भी मीठा हूं। और शहद-भरे पदार्थ से भी अधिक मीठा हूं। जो पदार्थ अंग-प्रत्यंग में शहद से व्याप्त हो रहा है मैं उससे भी अधिक मधुर हूं—ऐसी भावना करने पर मनुष्य अवश्य ही अपने विचारों, वचनों और कर्मों में मधुर बन जायेगा। भावना में बड़ी शक्ति होती है। प्रबल भावना के फलों का यदि अनुभव करना हो तो योगदर्शन का सिद्धिपाद देखो। मनुष्य को अपने हरएक अवयव को ऐसा मधुर बनाना चाहिये जैसे किसी मधुभरी शाखा का प्रत्येक अवयव। विना मधुरता के यह देह नीरस स्थाणुरूप है।

चेष्टा, स्वाध्याय और वाणी में माधुर्य

मधुमन्मे विक्रमणं मधुमन्मे परायणम्। वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः ।। अथर्व० १। ३४। ३ ।।

(मे) मेरा (विक्रमणम्) पादविक्षेप अर्थात् चलना-फिरना (मधुमत्) मधुर हो, (मे) मेरा (परायणम्) स्वाध्याय (मधुमत्) मधुर हो। (वाचा) वाणी से (मधुमत्) मधुर (वदामि) मैं बोलता हूं, (मधुसंदृशः) मधुदृष्टि या मधु के सदृश (भूयासम्) मैं हो जाऊं ।। ३३ ।।

भावार्थः—(१) इस मंत्र में भी भावना का वर्णन है। मधुर बनने की भावना को प्रबल बनाना चाहिये। चलने-फिरने, उठने-बैठने में मधुरता होनी चाहिये।

(२) स्वाध्याय में मधुरता का अभिप्राय है कर्कश आवाज से न पढ़ना। पढ़ने में अतिशीघ्रता, अस्पष्टोच्चारण, शब्दों का मध्य-मध्य में अनुच्चारण आदि दोष भी स्वाध्याय में माधुर्य गुण के विरोधी हैं।

(३) वाणी से भी मीठा बोलना चाहिये।

(४) क्रूरदृष्टि मनुष्य मधुरदृष्टि नहीं हो सकते। मधुरदृष्टि वे मनुष्य होते हैं जिनकी आँखों से प्रेमधारा निकले। मनुष्य के प्रत्येक अंग में मधुरता होनी चाहिये। उसे अपने आप को मधुरूप बनाना चाहिये। मधु जिस प्रकार मीठा होता है उसी प्रकार व्यवहार में जिसके सारे अंग दूसरों के लिये मीठे हैं वह मधुरूप कहलाता है।

जीवन की सात मर्यादाएं

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामिदेकामभ्यंहुरोऽगात्। आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ।। अथर्व० ५। १। ६ ।।

(कवयः) ऋषियों ने (सप्त) सात (मर्यादाः) मर्यादाएं अर्थात् सीमाएं

(ततक्षु:) बनाई हैं, (तासाम्) उनमें से (एकाम्) एक को (इद्) भी (अभ्यगात्) जो प्राप्त होता है वह (अंहुर:) पापी होता है। (स्कम्भ:) स्कम्भरूप परमात्मा (उपमस्य) उपमीभूत (आयो:) मनुष्य के (नीडे) हृदयरूपी घोंसले में, (पथां) मार्गों की (विसर्गे) समाप्ति पर और (धरुणेषु) धारक वस्तुओं में (तस्थौ) स्थित है। ३४॥

भावार्थ:—(१) मनुष्य के जीवन के लिये वेद ने ७ मर्यादाएं निश्चित की हैं। जिनका वर्णन यास्कमुनि ने निरुक्त में किया है। वे निम्नलिखित हैं—(१) स्तेय=चोरी, (२) तल्पारोहण=व्यभिचार, (३) ब्रह्महत्या=नास्तिकता, (४) भ्रूणहत्या=गर्भघात, (५) सुरापान=शराब पीना, (६) दुष्टस्य कर्मण: पुन: पुन: सेवा=दुष्ट कर्म का बार-बार सेवन, (७) पातकेऽनृतोद्यम्—पाप करने के बाद उसे छिपाने के लिये झूठ बोलना। मर्यादा कहते हैं सीमा को। कर्त्तव्य-शास्त्र की ये सात सीमाएं हैं। कर्त्तव्य-शास्त्र इन सीमाओं के अन्दर रहता है। इन हद्दों का अतिक्रम न करना सत्कर्त्तव्य या धर्म है।

(२) इन मर्यादाओं में से एक मर्यादा का भी जो उल्लंघन करता है वह पापी होता है।

(३) जो इन सातों मर्यादाओं में रहता है वह परमात्मा का उपम अर्थात् अधिक सदृश बन जाता है। परमात्मा में और उसमें परस्पर उपमानोपमेय भाव हो जाता है।

(४) परमात्मा जो स्कम्भरूप अर्थात् भुवनप्रासाद का स्तम्भरूप है, वह उपमीभूत मनुष्य के हृदय-नीड़ में रहता है। इसी हृदय-मन्दिर में मर्यादाबद्ध मनुष्य परमात्मा का भजन और उसका प्रत्यक्ष कर सकता है।

मनुष्य के हृदय में ही परमात्मा का भान क्यों होता है, इस प्रश्न के उत्तर के लिये ही मंत्र में "उपमस्य" यह पद दिया है। जीवात्मा की उपमा परमात्मा से और परमात्मा की जीवात्मा से है! ये दोनों ही अप्राकृतिक हैं, प्रकृति से विलक्षण हैं। इसीलिये वेद तथा उपनिषदों में प्रकृति-वृक्ष पर बैठे दो पक्षियों से जीवात्मा और परमात्मा को रूपित किया गया है। रूपक का अभिप्राय यही है कि जीवात्मा और परमात्मा परस्पर सदृश हैं और प्रकृति से विलक्षण हैं। तभी तो जीवात्मा और परमात्मा में परस्पर सादृश्य, अर्थात् उपमानोपमेय भाव है। जब साधारण जीवात्मा जो कि मनुष्य की देह में है, परमात्मा के साथ सादृश्य रखता है, तब मनुष्य का वह आत्मा तो, जिसने कि सात मर्यादाओं में रह कर अपने आप को पवित्र कर लिया है, अवश्य ही परमात्मा का उपमीभूत होना चाहिये।

(५) परमात्मा पथों की समाप्ति पर है। सभी धर्मपन्थों का केन्द्र-स्थान वेद है। इसी केन्द्र से धर्म के भिन्न-भिन्न पथ निकले हैं। इन सब पथों का विसर्ग अर्थात् समाप्ति वेद पर होती है। इसी समाप्ति पर परमात्मा बैठा हुआ है। अर्थात् परमात्मा के सत्यस्वरूप का ज्ञान सब धर्मपथों के केन्द्रीभूत वेदों द्वारा ही सम्भव है। "पथां विसर्गे" का एक और अभिप्राय भी सम्भव है। वेदों में जगत् और ब्रह्म में व्याप्यव्यापकता दिखलाई है। जगत् व्याप्य और ब्रह्म व्यापक है। ब्रह्म में जगत् व्यापक नहीं। अपितु सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म के एकदेश में विद्यमान रहता है। इसी आशय को अधिक स्पष्ट करने के लिये वेदों में ब्रह्म और जगत् की दैशिक सत्ता का दृष्टान्त नीड़ और वृक्ष दिया जाता है। उसमें ब्रह्म को वृक्ष और जगत् को नीड़ बताया है। नीड कहते हैं घोंसले को। घोंसला वृक्ष के एक देश पर आश्रित रहता है और वृक्ष घोंसले से बहुत बड़ा होता है। इसी प्रकार परमात्मा रूपी वृक्ष इस जगत् रूपी नीड का आश्रय है और जगत् से बहुत बड़ा है। ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र, तारादिकों के समुदाय को ही जगत् कहते हैं। ये ग्रह नक्षत्रादि अपने-अपने नियत पथों पर घूम रहे हैं। इनमें से कोई भी विपथगामी नहीं होता। अत: जहाँ जगत् की सत्ता है वहां-वहाँ हम पथों की सत्ता की कल्पना भी कर सकते हैं। परन्तु जहाँ जगत् की अन्तिम सीमा है, जिस से परे जगत् की सत्ता नहीं, वहां पृथिव्यादि के घूमने का कोई पथ भी नहीं, यह स्पष्ट है। वह स्थान 'पथां विसर्ग' है। वहां पथों का विसर्ग अर्थात् समाप्ति हो जाती है। उस से आगे कोई पथ नहीं। परन्तु परमात्मा वहां भी विद्यमान है। अत: परमात्मा की स्थिति 'पथां विसर्ग' पर भी है।

(६) वह स्कम्भ रूप परमात्मा धारक पदार्थों में भी स्थित है। स्कम्भ का अर्थ है—धारण करने वाला, थामने वाला। परमात्मा के स्कम्भरूप का वर्णन अथर्व० १०, ७ में बहुत उत्तम शब्दों में किया है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारा, वायु, पृथिवी आदि पदार्थ संसार में धारक रूप से प्रसिद्ध हैं। ये सब प्राणी जगत् के तथा परस्पर के धारण करने वाले हैं। परमात्मा इन धारकों का भी धारक है। वह इन धारकों में भी स्कम्भरूप (धारक रूप) से स्थित है। अर्थात् संसार का मूलाधार या मूल-धारक परमात्मा ही है। अत: भक्ति, उपासना और मनन इसी महान् शक्ति का करना चाहिये। चूंकि यह सर्वोच्च है, सर्वश्रेष्ठ है, सर्वाधार है।

सत्य और प्रियभाषण

यद्वदामि मधुमत्तद्वदामि यदीक्षे तद्वनन्ति मा। त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान् हन्मि दोधतः॥ अथर्व०। १२। १। ५८॥

(यद्) जो (वदामि) मैं बोलता हूं (मधुमत्) मीठा बोलता हूं, (तद्) यह

(वदामि) बोलता हूं (यदीक्षे) जो देखता हूं, (तद्) यह (मा) मुझ को (वनन्ति)१ उपदेश देते हैं। (त्विषीमान्) तेजस्वी (अस्मिन्) हूं, (जूतिमा)२ क्रियाशील हूं, (दोधतः)३ क्रोधी (अन्यान्) शत्रुओं को (अवहन्मि) मार गिराता हूं॥ ३५॥

भावार्थः—(१) यदीक्षे—मनुष्य कैसा बोले यह प्रश्न है? । मन्त्र में उत्तर दिया है कि जैसा देखे वैसा बोले, उलटा न बोले। अर्थात् सदैव सत्य बोले। (२) मधुमत्:—प्रश्न हो सकता है कि क्या सत्य को कड़वे रूप में भी बोल दे, उत्तर है, नहीं। अपितु मीठा बोले। कड़वा न तोले। इस प्रकार बोले कि सत्य भी हो और मीठा भी हो।

(३) त्विषीमान्:—मनुष्य तेजस्वी बने। सत्य के पालन से मनुष्य में तेज आ जाता है। इस तेज की प्राप्ति अवश्य करनी चाहिये।

(४) जूतिमान्:—मनुष्य को क्रियाशील होना चाहिये। सुस्त होना और समय खराब करना मनुष्य के लिये उचित नहीं।

(५) दोधतः—क्रोधी शत्रुओं का नाश भी करना चाहिये। जिनके स्वभाव में ही क्रोध है ऐसे शत्रुओं के साथ उदासीनता या क्षमावृत्ति नहीं रखनी चाहिये।

सत्य वचनों के पुजारी बनो

को अद्य युंक्ते धुरि गाः ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून्। आसन्निषून् हृत्स्वसो मयोभून् य एषां भृत्यामृणधत् स जीवात्॥ अथर्व० १८।१।६॥

(कः) कौन (अद्य) आज कल (शिमीवतः)४ कर्म वाले (भामिनः)५ तथा तेजः स्वरूप (ऋतस्य) सत्य की (धुरि) धुरा में (दुर्हृणायून्)६ रोषयुक्त तथा (आसन्) मुख में (इषुन्) वाणरूप (हृत्स्वसः) परन्तु हृदयों में लग जाने वाली (मयोभून्) (और परिणाम में) सुखोत्पादक (गौः)७ वाणियों को (युंक्ते) जोड़ता है, (यः) जो मनुष्य (एषाम्) इन वाणियों की (भृत्याम्) नौकरी (सेवा या धारण) (ऋर्णधत्)८ करता है((सः) वह (जीवात्) जीता है॥ ३६॥

१—वन शब्दे। पैप्पलाद शाखा में वनन्ति के स्थान में "वदन्तु" पाट है। अन्य पुस्तकों में "वदन्ति" पाठ भी मिलता है॥ २—जू गतौ॥ ३—दोधतिः क्रुध्यातकमा, निघं० २। १२॥

४—शिमी—कर्म, निघं० २। १॥ ५—भा दीप्तौ॥

६—निघं० १। १७॥

७—गो—वाणी, निघं० १। ११॥

८—ऋणद्धिः परिचरणकर्मा निघं० ३। ५॥

भावार्थ:—(१) मन्त्र में ऋत का वर्णन गाड़ी रूप से किया गया है। धुः का अर्थ है—धुरा अर्थात् जुआ। गा: के दो अर्थ हैं, बैल और वाणियाँ। गाड़ी को चलाने के लिये गाड़ी की धुरा में बैल बाँधे जाते हैं। ऋतरूपी गाड़ी के चलाने के लिये भी ऋत – गाड़ी के आगे वाणी रूपी बैलों को लगाना पड़ता है। ऋत अर्थात् सत्य के प्रचार के लिये ऋत की धुरा में वाणियां ही जुड़ती है। वचन द्वारा ही सत्य का प्रचार हो सकता है। सत्य की गाड़ी को, एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक पहुंचाने के लिये, वचन रूपी बैलों की आवश्यकता होती है। चूंकि सच्चाई का प्रकाश वचनों द्वारा ही होता हैं।

(२) मन्त्र में ऋत के दो विशेषण दिये हैं—

(क) शिमीवत:, (ख) भामिन:। ये दोनों पद षष्ठी विभक्ति के एकवचन के रूप हैं, अत: 'ऋतस्य' के विशेषण हैं।

क—शिमीवान् का अर्थ है 'कर्मवाला'। शिमीवान् पद से सत्य का लक्षण किया गया है। सत्य वह है जो शिमीवान् है। रज्जु में हमें सर्प का ज्ञान हुंआ। यह ज्ञान सत्य नहीं। क्योंकि यह ज्ञान कर्मवाला नहीं। यह ज्ञान कर्मवाला तव होता जब कि इस ज्ञान द्वारा दिखाये गये सर्प में सर्प के काम होते। अर्थात् यदि रज्जु में सर्प के गुणधर्म रहते। यत: सर्प के गुणधर्म रज्जु में नहीं अत: रज्जु में सर्प का ज्ञान भी सत्य नहीं। प्रत्येक ज्ञान का पर्यवसान कर्म में होता है। ज्ञानसे ज्ञान (अनुपादेय जानकर छांड़ देना), उपादान (उपादेय जानकर ग्रहण कर लेना) या उपेक्षा (न लाभकर है, न हानिकर, यह जानकर उस वस्तु की उपेक्षा करना) हुआ करते हैं। रज्जु में जव सर्प का ज्ञान हुआ तब सर्प दृष्टि से यद्यपि वह रज्जु तात्कालिक ज्ञान का विषय बन जाती है, परन्तु प्रकाशादि की उपस्थिति हो तेही वह रज्जु सर्प-ज्ञान का विषय भी नहीं रहती। परन्तु सर्प में सर्पज्ञान होने से प्रकाशादि के होने पर भी उसमें ज्ञानबुद्धि बनी ही रहती है। उस बुद्धि का नाश प्रकाश की उपस्थिति में भी नहीं होता। अत: सर्प में सर्पबुद्धि तो सत्य है और रज्जु में सर्प-बुद्धि असत्य है। चूंकि पूर्वबुद्धि कर्म बाली और दूसरी बुद्धि कर्म से शून्य है। अर्थात् पूर्वबुद्धि ने जो सर्प दिखाया है वह सर्प सर्प के कार्यों को कर सकता है और दूसरी बुद्धि ने जो सर्प दिखाया है वह सर्प सर्प के कार्यों को नहीं कर सकता। सत्य की परख कार्य से ही हुआ करती है। अत: सत्य वह है जो शिमीवान् है। इसी लक्षण को बौद्ध लोग "अर्थक्रियाकरित्वं सत्यत्वम्' इन शब्दों द्वारा निर्दिष्ट करते हैं।

(ख) सत्य का दूसरा विशेषण हैं—'भामिन:'। भामी का अर्थ है "तेजयुक्त"। भा-दीप्ति, यथा प्रभा। सत्य, प्रकाशस्वरूप है और असत्य, अन्धकार-

स्वरूप। प्रकाश अन्धकार पर अवश्य विजय पाता है, इस सिद्धान्त के दर्शाने के लिये मन्त्र में सत्य का 'विशेषण' भामिनः दिया है। इसलिये ऊपर कहे दो विशेषणों से सत्य के दो गुण दिखाये हैं—(१) सत्य कर्म वाला है, (२) सत्यमार्ग प्रकाश का मार्ग है।

(३) बचे हुए विशेषण गाः पद के हैं। यथा—

(क) दुर्हृणायून्, (ख) आसन्निपून्, (ग) हृत्स्वसः, (घ) मयोभून्। मन्त्र में गाः पद पुल्लिग है अतः इसके विशेषण भी पुल्लिग में रक्खे हैं, गाड़ी के आगे गौओं का लगाना वैदिक-सिद्धान्त के विरुद्ध है। साड़ी के आगे बैलों को लगाना चाहिये न कि गौओं को। गाः पद के विशेषणों के अभिप्राय यथाक्रम निम्न-लिखित हैं—

(क) दुर्हृणायून्। दुर् का अर्थ है– बुरा। हृणीङ् धातु का अर्थ है–रोष और लज्जा। वर्तमान स्थल में केवल रोष अर्थ का ग्रहण संगत प्रतीत होता है। अतः दुर्हृणायु का अर्थ हुआ– बुरे रोषवाली या अधिक रोषवाली। सत्य की वाणियों में यतः छल कपट नहीं होता, वे ऋजु होती हैं, अतः वे उग्र या कठोर प्रतीत होती हैं। सत्यवादी यह परवाह नहीं करता कि उसकी वाणियाँ दूसरों को बुरी लगेंगी या या अच्छी। वह सत्य का प्रचार करता ही है। और चूंकि सर्वसाधारण जनों का व्यवहार असत्य पर अवलम्बित रहता है, अतः उन्हें सत्यवादी के वचन कठोर और रोषयुक्त प्रतीत होते हैं।

(ख) गाः का दूसरा विशेषण है– आसन्निपून्। आसन् पद अस्य शब्द की सप्तमी विभक्ति का रूप है। इषु का अर्थ है—बाण। अतः "आनन्निपून्" का अर्थ है—मुख में बाणरूप। सत्यवाणियों का यह स्वरूप वास्तव में यथार्थ है। सत्य वाणियां जब मुख में होती हैं अर्थात् जब वे बोली जाती हैं, तब असत्यवादियों को वे बाण के समान प्रतीत होती हैं। अतः सत्य वाणियों का यह विशेषण भी उचित ही है।

(ग) गाः का तीसरा विशेषण है— हृत्स्वसः। हृत्सु का अर्थ है—हृदयों में, और असः का अर्थ है—फैंके गये। अतः हृत्स्वसः का अर्थ हुआ—हृदयों में फैंके गये। सत्यवचन, बोलते समय भले ही कटु या कठोर प्रतीत हों तो भी श्रोता अपने हृदयों में उन वचनों की सच्चाई को अवश्य मानते हैं। वे वचन श्रोताओं के हृदयों में अवश्य फैके जाते हैं। अर्थात् वे वचन उनके हृदयों में अवश्य घर कर लेते हैं। चाहे कई आदमी संसार में ऐसे भी मिल जायें जो हृदय में पत्थर-सम होते हैं। उन में सम्भव है कि सत्यवचन अपना स्थान न भी बना सकें। तो भी जन साधारण ऐसे नहीं हो सकते। इसलिये 'हृत्सु' में बहुवचन रक्खा है। जो कि सर्वसाधारण का सूचक है।

(घ) गा: का चौथा विशेषण है—मयोभून्। जिसका अर्थ है—सुखों के उत्पादक। सत्यप्रचार, सत्यव्यवहार, सत्यवचन और सत्यविचार का परिणाम सुख अवश्य है। चाहे वह सुख शीघ्र हो या देर में। अतः ऊपर के चार विशेषण सत्य की वाणियों में अच्छे प्रकार घटते हैं।

(४) मन्त्र के चौथे चरण में यह कहा है कि जो मनुष्य इन सत्यवाणियों की नौकरी स्वीकार करता है वही जीता है। नौकर वह है जो अपने स्वामी की आज्ञा में रहे। जो कि अपने स्वामी का भक्त हो। मनुष्यों को चाहिये कि वे सत्यवचनों को अपना स्वामी समझें और अपने आपको सत्यवचनों के नौकर। अर्थात् वे नौकर बनकर सत्यवचनों की सेवा-शुश्रूषा करने वाले हों और सदैव उनके आज्ञानुवर्त्ती हों। इस प्रकार जो मनुष्य सत्य का नौकर बनकर उसकी आज्ञाओं का सदा पालन करता है वह ही वास्तव में जीता है। उसीकी दीर्घायु तथा उत्तम आयु होती है।

परमात्मा सत्यरक्षक और असत्यनाशक है

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयः तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्।
अथर्व० ८। ४। १२॥

[चिकितुषे]१ तत्त्वज्ञानी [जनाय] मनुष्य के लिये [सुविज्ञानम्] यह सुविज्ञेय है कि [सत्] सत्य [च] और [असत्] असत्य [वचसी] वचन [पस्पृधाते] परस्पर विरुद्ध हैं। [तयोः] उनमें [यत्] जो [सत्यम्] सत्यबचन है [यतरत्] और जो [ऋजीयः] अधिक ऋजु अर्थात् सरल है [तत्] उसकी [इत्] ही [सोमः]२ प्रेरक परमात्मा [अवति] रक्षा करता है, और [असत्] असत्य का [आहन्ति] नाश करता है ॥३७॥

भावार्थः—इस मन्त्र में सत्य और असत्य सम्बन्धी चार सिद्धान्तों का वर्णन है।

(१) सत्यवचन और असत्यवचन परस्पर विरोधी हैं।

(२) असत्य की अपेक्षा सत्य अधिक ऋजु अर्थात् सरल है।

(३) संसार का प्रेरक परमात्मा सत्य की रक्षा करता है।

(४) वही परमात्मा असत्य का नाश करता है।

१—किती संज्ञाने। २—षू प्रेरणे॥

परमात्मा पापी और हिंसक क्षत्रिय की वृद्धि नहीं करता, वह राक्षस और झूठे का नाश करता है

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम् ।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद्वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ।।

अथर्व० ८ । ४ । १३ ।।

[सोमः] प्रेरक परमात्मा [वृजिनम्] पापी को [न वै उ] कभी भी नहीं [हिनोति] बढ़ाता, [न] और न [क्षत्रियम्] क्षत्रिय को [मिथुया] जो कि हिंसा-व्यवहार को [धारयन्तम्] धारण करता है। [रक्षः] राक्षस को [आहन्ति] मारता है, [असत्] असत्य [वदन्तम्] बोलने वाले को [आहन्ति] मारता है। [उभौ] दोनों [इन्द्रस्य] इन्द्र के [प्रसितौ] बन्धन में [शयाते] शयन करते हैं ।। ३८ ।।

भावार्थः—इस मन्त्र में निम्नलिखित भाव दर्शाए हैं—

(१) सोम अर्थात् जगत् का प्रेरक परमात्मा पापी जनों को कभी भी उच्च गति नहीं देता ।

(२) वह अत्याचारी क्षत्रियों को भी उच्च गति नहीं देता ।

(३) वह राक्षसवृत्ति वाले लोगों को मारता है ।

(४) वह असत्यवादी का नाश करता है ।

(५) ये सब इन्द्र अर्थात् जगत् के राजा परमात्मा के बन्धन में सर्वदा रहते हैं। अर्थात् इन्द्र इन के बुरे कर्मों का सदैव फल देता है। ये दुःखों से मुक्ति कभी भी नहीं पाते ।

परमात्माश्रय से वाणी का पाप-मोचन

यदुवक्थानृतं जिह्वया वृजिनं बहु ।
राज्ञस्त्वः सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणादहम् ।।

अथर्व १ । १० । ३ ।।

[यत्] जो [अनृतम्] झूठ और [बहु] बहुत प्रकार के [वृजिनम्] त्यागने योग्य पापवचन [जिह्वया] जिह्वा से [उवक्थ] तूने बोले हैं। [राज्ञः] सब संसार के राजा [सत्यधर्मणः] सत्यनियम वाले तथा [वरुणस्य] श्रेष्ठस्वरूप परमात्मा के आश्रय द्वारा [त्वा] तुझ को [अहम्] मैं [मुञ्चामि] उन पापों से छुड़ाता हूं ।।३९।।

भावार्थ:—(१) इस मन्त्र में पिता अपने पुत्र को, या गुरु अपने शिष्य को अथवा उपदेशक किसी उपदेश्य व्यक्ति को कहता है कि तूने अपनी जिह्वा से जो झूठ या अन्य त्यागने योग्य दुर्वचन बोले हैं मैं तुझे उन दुर्वचनों से—संसार के राजा, सत्य नियमों वाले तथा श्रेष्ठस्वरूप परमात्मा के आश्रय द्वारा—छुड़ाता हूं। "वरुणास्" पद में ल्यब्लोप पञ्चमी है। अतः वरुणात् का अर्थ है "वरुणमाश्रय्य" वरुण का आश्रय करके।

(२) वृजिन पद 'वृज्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है—त्याग अर्थात् छोड़ना। त्याज्य कर्मों के करने से पाप होता है अतः संस्कृत साहित्य में वृजिन पद का अर्थ ही पाप होता है।

(३) मन्त्र में वृजिन पद से जिह्वा के पापों का ग्रहण है। जिन में से अनृत को तो मन्त्र में ही लिखा है। अन्य भी कई जिह्वा के पाप होते हैं। यथा[क] निन्दा करना, [ख] दीनवचन बोलना, [ग] चुगली करना, [घ] कठोर बोलना, [ङ] असम्बद्ध वचनों का बोलना आदि। अनृत भी जिह्वा का पाप है जिसका मन्त्र में स्वपद् से वर्णन किया है। मन्त्र में अनृत को स्वपद से इसलिये दर्शाया है चूंकि अनृतभाषण महापाप है।

[४] अब प्रश्न पैदा होता है कि जिह्वा के इन पापों से छुटकारा कैसे हो? मन्त्र में बताया है कि परमात्मा का आश्रय वाणी के पापों से मुक्ति देने वाला है। यतः परमात्मा वरुण अर्थात् श्रेष्ठ है, अतः उसके आश्रय और संग से हम में श्रेष्ठता पैदा होगी। परमात्मा के धर्म सत्य हैं अतः उसके संग से हम भी सत्यधर्मा बन जायेंगे। हम से अनृत छूट जायगा। परमात्मा सब का राजा है अतः श्रेष्ठता और सच्चाई के गुणों को अपने में रखकर हम भी संसार के धार्मिक राजा बन सकते हैं। परमात्मा के आश्रय से इसी प्रकार जिह्वा के अन्य पाप भी छूट सकते हैं। यजुर्वेद में लिखा है कि "वाचो मे विश्वभेषजः"। अर्थात् हे प्रभो! आप ही मेरी वाणी के रोगों के मुख्य औषध हो। अनृतभाषण आदि दोष ही वाणी के रोग हैं। अतः माता-पिताओं, गुरुओं और उपदेशकों को चाहिये कि वे पुत्रों, शिष्यों तथा श्रोताओं को परमात्मा के भक्त बनावें। परमात्मा के सत्संग से वे अपने सब प्रकार के इन्द्रियमलों का निवारण कर सकेंगे।

सत्य का त्रैवार्षिक व्रत

यदर्वाचीनं त्रैहायनादनृतं किं चोदिम।
आपो मा तस्मात्सर्वस्मात् दुरितात्पान्त्वंहसः॥

अथर्व० १०।५।२२॥

[त्रैहायनात्] तीन वर्षों से [अर्वाचीनम्] इधर-इधर [यद्] जो [किं च]

कोई [अनृतम्] झूठ [ऊदिम] हमने बोला है। [आप:] व्यापक परमात्मा [मा] मेरी [तस्मात्] उस अनृतरूपी [दुरितात्] दुष्फल [अंहस:] पाप से तथा [सर्वस्मात्] अन्य सब दुष्फल पापों से [पान्तु] रक्षा करे ॥ ४० ॥

भावार्थ:—(१) इस मन्त्र ने "त्रैहायन-अनृतव्रत" का वर्णन है। त्रि—तीन, हायन—वर्ष। तीन वर्ष लगातार झूठ न बोलने के व्रत का नाम "त्रैहायनानृतव्रत" है। यह अभ्यास की एक कोटि है। व्यक्ति जब देख ले कि गत तीन वर्षों में, मैं अपने व्रत में सफल हो गया हूं, तो वह "त्रैहायनानृतव्रत" के लिये फिर दूसरी वार भी प्रण करे। इस प्रकार करते-करते मनुष्य जीवनानृतव्रत की अवधि तक भी पहुंच सकता हैं। हमारी अवस्था इतनी गिर गई है, कि हमारे लिये सत्य का घण्टा-व्रत करना भी दूभर है।

(२) कई व्यक्ति इकट्ठे मिलकर यदि ऐसे व्रतों को करें, तो अधिक लाभ होता है। इससे व्रतपालन में, एक दूसरे की सहायता तथा एक दूसरे पर नजर हो सकती है। इस भाव के दर्शाने के लिये ही सम्भवत: "ऊदिम" में बहुवचन दिया है।

(३) झूठ बोलने का फल बुरा होता है। झूठ बोलना एक दुष्कर्म है। अत: यह दुष्फल भी है। मन्त्र में दुरित पद का भी यही भाव है। दुर—बुरा, इत—फल। अत: दुरित—दुष्फल कर्म।

(४) झूठ बोलने से पाप होता है, इसीलिये मन्त्र में अनृ को 'अंहस्' कहा है। अंहस् का अर्थ है पाप।

(५) पाप मनुष्य को मार डालता है, यह भाव अंहस् पद से सूचित होता है। अंहस् पद 'हन्' धातु से बना है जिस का अर्थ है हिंसा।

(६) इसी प्रकार अन्य दुष्कर्म भी दुष्फल तथा पाप-जनक होते हैं। (सर्वस्मात्)

(७) अनेक व्यक्ति मिल कर चाहे ऐसे व्रतों को करें, परन्तु आत्म-निरीक्षण प्रत्येक व्यक्ति का पृथक्-२ कर्त्तव्य है। आत्म-निरीक्षण में प्रत्येक व्यक्ति अपनी मदद आप ही कर सकता है। और आत्म-निरीक्षण करते हुए यदि अपने व्रत के पालन में कहीं त्रुटि दीख पड़े तो मनुष्य उसे दूर करने के लिये परमात्मा से शक्ति की प्रार्थना करे। इस वैयक्तिक आत्म-निरीक्षण के लिये ही मन्त्र में "मा" पद भी दिया है जो कि एकवचन है।

आत्मिक प्रकाश

यथा मधु मधुकृत: संभरन्ति मधावधि।
एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥
अथर्व० ९।१।१६॥

(यथा) जैसे (मधुकृत:) मधुकर अर्थात् भौंरे (मधावधि) मधु के छत्ते में

(मधु) मधु को (संभरन्ति) इकट्ठा करते हैं। (एवा) इसी प्रकार (अश्विना) हे अश्विदेवताओ ! (मे) मेरे (आत्मनि) आत्मा में (वर्चः) क्रान्ति (ध्रियताम्) स्थापित कीजिये ॥ ४१ ॥

भावार्थ:—(१) मन्त्र में वर्च की प्राप्ति का वर्णन है। वर्च का अर्थ है—कान्ति, तेज। निरुक्तकार ने अश्विदेवता के वर्णन में 'अश्विनौ' का अर्थ "सूर्याचन्द्र-मसौ" भी दिया है। यथा:—तत्कावश्विनौ। सूर्याचन्द्रमसावित्येके ॥ १२। १॥ सूर्य और चन्द्र दोनों वर्चस्वी हैं, क्रान्तिमय हैं। और वर्च की प्राप्ति में उन्हीं को आदर्श माना जा सकता है, जो कि स्वयं भी वर्चस्वी हों। अत: इस मन्त्र में अश्विनौ से सूर्य और चन्द्र का ग्रहण करना ही उत्तम होगा। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मधु-छत्ता मधु से लबालब भरा होता है, उसी प्रकार मेरा आत्मा सूर्य और चन्द्र की कान्ति से अभिव्याप्त हो।

(२) संभरन्ति=सम्+हरन्ति। 'हृग्रहोर्भः छन्दसि, ड्रस से ह को भ हुआ। भौंरे इकट्ठे होकर मधु के छत्ते को मधु से भरते हैं। इसी प्रकार सूर्य और चन्द्र इकट्ठे होकर मुझ में वर्च स्थापित करें। सूर्य का वर्च एक प्रकार का है और चन्द्र का दूसरे प्रकार का। सूर्य के वर्च में तीक्ष्णता है और चन्द्र के वर्च में सौम्यगुण है। मनुष्य के आत्मा में भी दोनों प्रकार के वर्च होने चाहियें।

———

दान के प्रत्येक अवसर पर
वेद मन्दिर निर्माण के लिए
दान भेजना न भूलें